अष्टमोऽध्यायः।

VISHNU SLEEPING ON THE SERPENT ANANTA

May 13th to 23rd

Geeta Chapters 1 &
and
Sivakshamapanar

Chinmaya Tapovan Trust, Sandeepany (H

1984

2

3/-

श्रीमद्भगवद्गीता

(गीतामृतमञ्जूषा)

अष्टमोऽध्यायः

परमहंसपरिव्राजकाचार्य दण्डिस्वामी श्रीमद्भागवतानन्द
सरस्वती महाराज का प्रसाद

गीतामण्डली
माधवीकुञ्ज
५०, शिवकुटी, पो० केवल्लीलाइन्स
इलाहाबाद—४

प्रकाशक :
प्रोफेसर निशीथ कुमार तरफदार, बी० ई०
बिहार कॉलेज ऑफ इंजिनियरिंग
पटना—५ (बिहार)
मुद्रक :
नरेन्द्रकुमार प्राणलाल आचार्य
आचार्य मुद्रणालय
कर्णघण्टा, वाराणसी–१

गीतामण्डली कर्तृक सर्वस्वत्व सुरक्षित

प्राप्तिस्थान

१—अध्यक्ष, गीतामण्डली,
५० शिवकुटी, इलाहाबाद–४

२—श्री शिवशंकर स्वामी
२३ पुराना किला, लखनऊ

३—श्रीमती छवि बोस
३ ए/११ आजाद नगर, कानपुर

४—श्रीमती रमा मित्रा
११२/२४८ स्वरूपनगर, कानपुर

५—श्रीमती उमादानी
द्वारा श्री डी. आर. दानी, लक्ष्मी निवास, सिविल लाइन्स, मुरादाबाद

६—प्रो० निशीथ कुमार तरफदार बी० ई०
बिहार इंजिनियरिंग कालेज,
पटना ५ (बिहार)

७—डॉ० मदन मोहन,
रमा आई हौस्पिटल,
१० कान्वैंट रोड, देहरादून

८—श्री हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव, एड्वोकेट,
प्रभु टाऊन, रायबरेली

९—श्रीमती माधवी कर,
द्वारा डॉ. एच.एम. कर
सिविल सर्जन, मिर्जापुर

१०—श्री एस. सी. मित्र, ब्रिज, आफिसर्स रेलवे कॉलोनी, १४ बी०, तिलक नगर, न्यू दिल्ली—१

११—श्री रामकुमार रस्तौगी
धामपुर (बिजनौर)

विज्ञप्ति

भगवान् की असीम कृपा से परमहंस परिव्राजकाचार्य दण्डिस्वामी श्रीमद्भागवतानन्द सरस्वती महाराज द्वारा प्रणीत **"गीतामृतमञ्जूषा"** का **अष्टम अध्याय** प्रकाशित हो रहा है। इस अध्याय का नाम है **अक्षरब्रह्मयोग** अर्थात् जिस ब्रह्म के (परमात्मा का) सगुण या निर्गुण स्वरूप की उपासना करने से संसार-समुद्र से जीव को वह परमब्रह्म पार कर देता है उस परमब्रह्म के साथ किस उपाय से योग (एकत्व) सदा के लिए प्राप्त होकर जीव मृत्यु के पश्चात् सद्योमुक्ति या क्रममुक्ति पा सकता है इस अध्याय में उन सब का निर्देश दिया गया है एवं साथ-साथ जो योगी इस सर्वात्मा परब्रह्म को जीवन की लक्ष्यवस्तु रूप से ग्रहण न कर तपः, स्वाध्याय, इष्टापूर्ति अर्थात् याग यज्ञादि तथा लोकहितकरकार्य एवं दान इत्यादि करते हैं उन लोगों की मृत्यु के पश्चात् उच्चलोक में जाकर उस लोक के सुख भोग की समाप्ति होने पर पुनः वे लोग संसार में लौट आते हैं यह भी निर्देश भगवान् ने किया है। अतः साधनदृष्टि से इस अध्याय का महत्त्व अधिक है। स्वामीजी ने प्रति श्लोक के रहस्य का उद्घाटन सरल भाषा में इस प्रकार किया है कि साधकमात्र ही इससे लाभान्वित होंगे।

इस अध्याय का प्रकाशन कार्य में जिन व्यक्तियों की सहायता मिली है उनके प्रति गीतामंडली कृतज्ञता प्रकाश कर रही है।

जिन दानवीर महापुरुषों की सहायता से पीछले अध्यायों का प्रकाशन हुआ है, यह अध्याय भी उनकी सहायता से ही प्रकाशित हो रहा है। इसलिए गीतामंडली उनके प्रति बारंबार कृतज्ञता प्रकाश कर रही है।

इति

श्रीनिशीथ कुमार तरफदार
सचिव, गीतामण्डली
इलाहाबाद।

बसंत पञ्चमी—संवत् २०२७
ता० ३१-१-१९७१

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

श्रीमद्भगवद्गीता

अष्टमोऽध्यायः

"अक्षरब्रह्मयोग"

[परमब्रह्म इन्द्रियातीत हैं—अतः श्रुति इन्हें अदृश्य, अवाच्य कहती है (तै० उ०)। जबतक बहु विषयवासनाओं के द्वारा बुद्धि कलुषित एवं चित्त अशुद्ध रहता है तबतक इन अदृश्यत्वादि गुणों से युक्त निर्विशेष अप्रमेय (सभी प्रमाणों के अतीत) परब्रह्म का आत्मरूप में कोई भी अनुभव नहीं कर सकता है। ये वासनाएँ ही भेददर्शन की कारण हैं। अतः जिसके द्वारा चित्तशुद्धि प्राप्त कर निर्विशेष निर्गुण ब्रह्मज्ञान की योग्यता प्राप्त हो सके उसके लिए पूर्ववर्ती सप्तम अध्याय के अन्त में (७।२९-३०) अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ, निखिल (सारे) कर्मप्रभृति को ब्रह्म से अभिन्न रूप से दर्शनरूप उपासना (सगुण ब्रह्म की उपासना) को सूत्ररूप से श्रीभगवान् ने निर्देश किया एवं इसका फल जो निर्गुण ब्रह्म का स्वरूप-ज्ञान है उसे भी—'ते ब्रह्म तद्विदुः' (वे इस ब्रह्म को जानते हैं) इस प्रकार से स्पष्ट किया।

अध्यात्मादि जो पदार्थ सप्तम अध्याय के अन्त में उल्लिखित हुए हैं उनके सम्बन्ध में विशेषरूप से जानने की अर्जुन ने इच्छा प्रकट की इसलिये अष्टमाध्याय में श्रीभगवान् ने उनकी व्याख्या की जिससे अर्जुन परब्रह्म

स्वरूप को अन्वय तथा व्यतिरेक मुख से जानकर (अर्थात् अध्यात्मादि पदार्थ ब्रह्म से पृथक् नहीं है तथापि उनसे विलक्षण है इसप्रकार जानकर) संसार-प्रवाह से मुक्त हो सके। मुक्ति दो प्रकार की होती है—(क) सद्योमुक्ति—जीवितावस्था में ही ब्रह्मज्ञान लाभ कर ब्रह्मस्वरूपता को जो ज्ञानी प्राप्त होते हैं वे देहपात के बाद ही अर्थात् सद्यः ही विदेहकैवल्य प्राप्त होते हैं। (ख) क्रममुक्ति—जो लोग ईश्वर या सगुण ब्रह्म की उपासना करते हैं (सगुण ब्रह्म में) निष्ठालाभ करते हैं वे लोग देहपात के बाद ब्रह्मलोक में जा कर तत्त्वज्ञान प्राप्त कर मुक्त होते हैं। अष्टमाध्याय में अध्यात्मादि सात पदार्थों की व्याख्या के अतिरिक्त ये दो प्रकार की मुक्ति, उनके प्राप्ति का विशेष उपाय, सगुण ब्रह्मोपासकों की क्रममुक्ति का मार्ग एवं जो लोग मुमुक्षु नहीं हैं किन्तु शास्त्रविहित इष्टपूर्तादि कर्म करते हैं वे लोग मृत्यु के बाद कौनसी गति प्राप्त करते हैं ये सभी वर्णित हैं]।

प्रथम दो श्लोकों में अध्यात्मादि शब्दों का तात्पर्य जानने के उद्देश्य से अर्जुन ने प्रश्न किया—

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

अन्वयः—अर्जुनः उवाच—हे पुरुषोत्तम ! तत् ब्रह्म किं ? अध्यात्मम् किम् ? कर्म किम् ? अधिभूतं च किं प्रोक्तम् ? किं च अधिदैवम् उच्यते ? हे मधुसूदन ! अस्मिन् देहे कः अधियज्ञः कथम् अत्र ? प्रयाणकाले च नियतात्मभिः कथं ज्ञेयः असि ?

अनुवाद—अर्जुन ने कहा—हे पुरुषोत्तम ! उस ब्रह्म का स्वरूप क्या है ? किसे अध्यात्म कहा जाता है ? कर्म क्या है ? किसे ही अधिभूत कहा जाता है ? अधिदैव किसे कहा जाता है ? इस देह में अधियज्ञ कौन है एवं किस प्रकार उसका चिन्तन करना चाहिये ? हे मधुसूदन ! मृत्यु के समय में नियतात्मा (संयतात्मा अर्थात् एकाग्रचित्त हुए) साधक किस प्रकार से तुम्हें जान सकते हैं ?

भाष्यदीपिका—हे पुरुषोत्तम—तुम समस्त पुरुषों में उत्तम हो क्योंकि तुम क्षर तथा अक्षर अर्थात् कार्य कारण से अतीत (विलक्षण) हो एवं उनके नित्य ज्ञाता हो। तुम सर्वज्ञ हो—अतः तुम्हारे लिये अविदित नहीं है अतः तुम अनायास ही मेरे समस्त संशयों की निवृत्ति कर सकोगे। ऐसा मनोभाव प्रकाश करने के लिए ही अर्जुन ने श्रीभगवान् का पुरुषोत्तम कहकर सम्बोधन किया। तत् ब्रह्म किम्—उस ब्रह्म का स्वरूप क्या है ? अर्थात् वह ब्रह्म सोपाधिक है या निरुपाधिक है ? किम् अध्यात्मम्—किसे अध्यात्म कहा जाता है ? 'अधिकृत्य आत्मानम्' आत्मा को अर्थात् देह को अधिकार (अधिष्ठित) कर जो स्थित रहता है उसे ही साधरणतः अध्यात्म कहा जाता है। अतः क्या श्रोत्र, चक्षु प्रभृति इन्द्रियों को अध्यात्म कहा गया अथवा प्राण को अध्यात्म कहा गया अथवा प्रत्यग्भूत ब्रह्म अर्थात् प्रत्यगात्मा या जीवात्मा को अध्यात्म कहा गया ? कर्म किम्—७।२९ श्लोक में उक्त कर्म शब्द का अर्थ क्या है ? श्रुति में कहा गया है 'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च' (तै० उ०) अर्थात् विज्ञान हो यज्ञ का विस्तार करता है तथा कर्मों का भी विस्तार करता है। इसप्रकार श्रुति में दो प्रकार के कर्म निर्धारित हैं। अतः तुम जो अखिल कर्म के सम्बन्ध में कह रहे हो वह क्या यज्ञ है या और कुछ ? अर्थात् शास्त्रविहित (श्रौत तथा स्मार्त) यज्ञादि कर्म तथा लौकिक कर्मों में किसी एक को समग्ररूप से जानने के सम्बन्ध में कह रहे हो या सभी कर्मों को जानने के लिये कह रहे हो ? अधिभूतं च किं प्रोक्तम्—[७।३० श्लोक में उक्त अधिभूत शब्द द्वारा क्या समझाया जा रहा है ? पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश ये पंच महाभूत हैं। इनमें किसी एक कार्य को अधिभूत कह रहे हो अथवा समस्त कार्यपदार्थ को अधिभूत कहना तुम्हारा अभिप्राय है ? 'अधिभूतं च' इस स्थान में 'च' शब्द समस्त प्रश्नों का समुच्चय (एकत्र समझाने) के लिए व्यवहृत हुआ है। किं च अधिदैवम् उच्यते ?—७।३० श्लोक में उक्त अधिदैव शब्द का अर्थ क्या है ? अधिदैव शब्द से क्या किसी देवताविशेष का अनुध्यान (चिन्तन या उपासना) समझाया जा रहा है या आदित्यमण्डलादि के समान समस्त देवताओं में जो चैतन्य अनुस्यूत (व्याप्त) है उस चैतन्य को समझाया जा रहा है ? हे मधुसूदन !—हे मधुदैत्यनाशक ! तुमने मधु नामक दैत्य का निधन कर जगत् की उपद्रव से रक्षा किया था। तुम सर्वोपद्रव नाशक हो, परमकारुणिक भगवान् हो। अतः तुम अनायास ही मेरे सन्देह रूप उपद्रव का निवारण कर सकोगे। ऐसा भाव प्रकाश करने के लिए अर्जुन ने 'मधुसूदन' कहकर सम्बोधन किया।

कः अधियज्ञः कथं कः अत्र—अधियज्ञ शब्द के द्वारा यज्ञ का अधिष्ठाता कोई देवता को समझना चाहिए या परब्रह्म को ही अधियज्ञ मानना चाहिए (मधुसूदन) अथवा विज्ञानात्मा को समझना चाहिए ? (आनन्दगिरि)। और जो अधियज्ञ हैं उन्हें किस प्रकार चिन्तन करना चाहिए ? अर्थात् तादात्म्य रूप से [अत्यन्त अभिन्न रूप से (अपने साथ किसी प्रकार भेदबुद्धि न रखकर)] चिन्तन करना चाहिए ? वह अधियज्ञ पुरुष इस देह में ही है या देह के बाहर है ? यदि देह में ही हैं तो बुद्धि मन प्रभृति के रूप में विराजमान हैं या उनसे भिन्न अन्य कुछ रूप में हैं ? इस स्थान में 'अधियज्ञः' 'कथं कः अत्र'—ये दो प्रश्न नहीं हैं किन्तु उस अधियज्ञको किस प्रकार से जानूँगा इस उद्देश्य से प्रश्न किया गया, इसलिए वह एक ही प्रश्न है। उस अधियज्ञ देह में कौन है एवं किस प्रकार से चिन्तनीय है—उसके सम्बन्ध में ये दो प्रकार का ज्ञान रहने से ही उसे ठीक ठीक रूप से जाना जा सकता है इसलिए यहाँ केवल प्रश्न के प्रकार में भेद रहने के कारण इसे एक ही प्रश्न समझना चाहिए। प्रयाणकाले च नियतात्मभिः कथं ज्ञेयः असि—समाहित चित्त वाले योगियों के द्वारा तुम मरणकाल में किस प्रकार जाने जा सकते हो। मृत्युकाल में इन्द्रियसमूह की अत्यन्त व्याकुलता रहने के कारण जो लोग नियत संयत आत्मचित्त है अर्थात् चित्त को समाहित रखने का अभ्यास किये हैं उनके लिए भी चित्त को स्थिर रखना एक प्रकार से असम्भव है। अतः मृत्युकाल में चित्त को एकाग्र कर तुम्हें वे लोग किस प्रकार जान सकते है ? [ऐसा सन्देह सूचित करने के लिए 'प्रयाणकाले च' इस पद का 'च' शब्द का प्रयोग किया गया है। (मधुसूदन)] तुम जब सर्वज्ञ एवं परमकारुणिक हो तब तुम्हारे शरणागत मुझे ये सारी बाते कहो यही अर्जुन के कहने का अभिप्राय है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—

ब्रह्मकर्माधिभूतादि विदुः कृष्णैकचेतसः।
इत्युक्तं ब्रह्मकर्मादि स्पष्टमष्टम उच्यते॥

एकमात्र श्रीकृष्ण में ही जिनका चित्त समाहित (निविष्ट) है वे भक्तजन ब्रह्म, कर्म, अधिभूत आदि को जानते हैं-यह बात सातवें अध्याय में वर्णित हुई। अब उन ब्रह्म, कर्म आदि का स्पष्ट रूप से वर्णन अष्टम अध्याय में भगवान कर रहे हैं।

पूर्व अध्याय में (सातवें अध्याय में) भगवान् द्वारा उल्लिखित हुये ब्रह्म, अध्यात्म आदि सात पदार्थों का तत्त्व जानने की इच्छा कर 'किं तद्ब्रह्म'

इत्यादि दो श्लोकों से अर्जुन ने पूछा—[हे पुरुषोत्तम ! वह ब्रह्म क्या है ? अध्यात्म क्या है ? कर्म क्या है ? अधिभूत किसको कहा गया है ? अधिदेव किसको कहते हैं ?] अर्थ स्पष्ट है, इसलिये श्रीधर स्वामी ने इस श्लोक का अर्थ नहीं किया।

द्वितीय श्लोक—अत्र अधियज्ञः कः—(हे मधुसूदन !) इस शरीर में जो यज्ञ है उसमें अधियज्ञ अर्थात् अधिष्ठाता प्रयोजक (कर्म में नियुक्त करने वाला) तथा कर्मों के फलदाता कौन है ? स्वरूप को पृथक् पूछकर अब अर्जुन अधिष्ठान के प्रकार को पूछ रहा है—कथम् अस्मिन् देहे अधितिष्ठति—वह किस प्रकार से इस देह में स्थित रहकर यज्ञ का अधिष्ठाता होता है ? यहाँ समस्त कर्मों के उपलक्षणरूप से यज्ञशब्द का ग्रहण किया गया है। प्रयाण-काले च इत्यादि—जिनका चित्त नियत (संयत अर्थात् वशीभूत) किया गया है उन पुरुषों के द्वारा मृत्युकाल में तुम किस उपाय से जाने जाते हो।

(२) शंकरानन्द—श्लोक १—सप्तम अध्याय के अन्त में कहा गया है कि परब्रह्म जो अदृश्यत्व आदि गुणों से सम्पन्न, निर्विशेष तथा प्रमाण से अगम्य है उस परब्रह्म को अपने आत्मरूप से जानने में जो असमर्थ हैं ऐसे मन्दबुद्धिवाले पुरुषों की भेददृष्टि के कारणभूत बाह्यवासना समूह की निःशेष निवृत्ति होने से चित्तप्रसाद की सिद्धि होगी एवं ऐसा होने पर ब्रह्म के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त होगी। इसलिये सगुण ब्रह्म की उपासना का उपक्रम कर के 'ते ब्रह्म तद्विदुः' (वे उस ब्रह्म को जानते हैं) इत्यादि वाक्य के द्वारा अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञ आदि की ब्रह्म से अभिन्नरूप से उपासना को सूचित कर ब्रह्म अध्यात्म आदि के स्वरूप क्या है ? उसे विवेकपूर्वक दिखलाने के लिए एवं मृत्यु के समय मुमुक्षु का क्या कर्त्तव्य है, क्या ध्यातव्य है तथा क्या प्राप्तव्य है उन्हें प्रतिपादित करने के लिए पुनरावृत्ति सहित तथा रहित दोनों स्थानों के स्वरूप का बोध कराने के लिए तथा उपासकों का गन्तव्य मार्ग क्या है ? ये दिखलाने के लिए अष्टम अध्याय का प्रारम्भ किया गया है। उसमें 'ते ब्रह्म' (वे ब्रह्म) इत्यादि वाक्यों के द्वारा (७।२९) निर्दिष्ट ब्रह्म आदि पदों की अनेकार्थता सूचित होने के कारण उनके योग्य अर्थ को न जानते हुए अर्जुन ने जानने की इच्छा कर अब कहा—किं तद्ब्रह्म—परब्रह्म तथा अवरब्रह्म दोनों ही ब्रह्मशब्द का अर्थ होने के कारण यहाँ ब्रह्मशब्द से क्या परब्रह्म विवक्षित है या अपर ब्रह्म ? इसको कहो। आत्मा को (देह को) अधिष्ठान कर जो स्थित रहता है वह अध्यात्म है अतः वह अध्यात्मत्व प्राण, इन्द्रिय आदि का तथा आत्मा का

भी सम्भव है। इसलिए किमध्यात्मं—अध्यात्म क्या है ? प्राण, श्रोत्रादि या आत्मा इनमें से कौन अध्यात्म है ? कर्म भी तीन प्रकार के हैं—श्रौत, स्मार्त्त तथा लौकिक। इसलिये कर्म—कर्मशब्द से किं—कौन कर्म विवक्षित है ? कार्यकारणभेद से एवं पृथ्वी आदि के भेद से भूतों का अनेक होना सम्भव है, इसलिए अधिभूतम्—अधिभूत शब्द के द्वारा किं—क्या प्रोक्तम्—समझा जाता है एवं अधिदैवं किमुच्यते—अधिदैव शब्द के द्वारा क्या अग्नि आदि सभी देवता विवक्षित हैं अथवा उनके एक देश को (अर्थात् कोई एक देवता-विशेष को) अथवा उनके साथ सम्बन्धयुक्त और कोई क्रिया को कहा जा रहा है।

द्वितीय श्लोक—'अधियज्ञ' इत्यादि। 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' (विज्ञान यज्ञ का विस्तार करता है) 'यज्ञो वै विष्णुः' (यज्ञ विष्णु है) इन दोनों को ही एवं अन्य को भी यज्ञ का अधिष्ठान कर स्थित होना सम्भव है, इसलिए यहाँ अधियज्ञः—अधियज्ञ शब्द के द्वारा विज्ञानात्मा या विष्णु या अन्य कोई विवक्षित है ? एवं वह अत्र—इस देह में कथं—कैसे स्थित रहता है अर्थात् क्या साकाररूप से या निराकाररूप से स्थित रहता है अथवा क्या बुद्धि आदि में कोई एक रूप से या उनसे भिन्न रूप से स्थित रहता है ? फिर प्रयाणकाले च—प्रयाणकाल में भी नियतात्मभिः—नियतात्माओं के द्वारा अर्थात् समाहित चित्तवालों के द्वारा तुम कथं—किस प्रकार से ज्ञेयः असि—ज्ञेय होते हो अर्थात् किस प्रकार से तुम्हारे स्वरूप को जाना जाता है—सगुण रूप से, निर्गुणरूप से या अन्यरूप से अथवा अन्य किसी प्रकार से ? तुम इन सब बातों को ठीक ठीक कहो। इस प्रकार अर्जुन पूछ रहे हैं।

(३) नारायणीटीका—सप्तम अध्याय के अन्तिम दो श्लोकों में श्रीभगवान् ने कहा कि मेरे शरणापन्न होकर भजन करने से मेरे भक्तगण ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ इन सबका यथार्थ तत्त्व ज्ञात होते हैं एवं उसके फलस्वरूप मृत्यु के समय में भी वे मुझ परब्रह्म में समाहितचित्त (युक्त) रहकर मुझको विस्मृत नहीं होते हैं। इन दो श्लोकों में उक्त छः पदों का किस अर्थ में उल्लेख किया ? वह अर्जुन को जानना आवश्यक है। इसलिये अर्जुन ने इस प्रकार प्रश्न किया—

(१) ब्रह्म कौन है ? वह उपाधियुक्त सगुण है या सर्व-उपाधिरहित निर्गुण है उसका कौन सा स्वरूप मुमुक्षु के लिये ध्येय है ?

(२) अध्यात्म किसे कहा जाता है ? देह को अधिकार कर जो

विद्यमान रहता है वही तो अध्यात्म होगा। क्या चक्षुरादि इन्द्रियाँ अध्यात्म हैं अथवा प्रत्यक् चैतन्य अथवा सूक्ष्मपञ्चमहाभूत अध्यात्म है ?

(३) कर्म क्या है ? लोग जो कुछ कर्म करते हैं उनको कर्म कहा जाता है अथवा केवल वेदादिशास्त्रों से विहित यज्ञादि कर्मों को कर्म कहा जायगा ?

(४) अधिभूत शब्द का अर्थ क्या है ? भूतों को (पृथिवी आदि को) अधिकार करके जो कुछ कार्य देखा जाता है (अर्थात् पृथिवी आदि पञ्च-भूतों का कार्यरूप (विकार-रूप से) जो कुछ प्रतीत होता है वह अधिभूत है अथवा समस्त कार्यजात पदार्थों को अधिभूतरूप से माना जायगा ?

(५) अधिदैव कौन है ? क्या देवता मात्र ही अधिदैव है अथवा सभी देवताओं में जो चैतन्यसत्ता अनुस्यूत (व्याप्त) है उसे अधिदैव कहा है ?

(६) अधियज्ञ कौन है ? इस देह से जो यज्ञादि कर्म सम्पादित होता है उसका अधिष्ठाता अर्थात् उसका प्रयोजक (प्रेरणा देने वाला) एवं फलदाता कौन है ?

(७) मृत्यु के समय चित्त तथा इन्द्रियाँ अति व्याकुल रहने के कारण स्मृतिशक्ति का लोप होता है। अतः जिस योगी ने मृत्यु के पहले चित्त तुममें समाहित रखने का अभ्यास किया वह मृत्यु के समय किस प्रकार से तुमको स्मरण कर तुमको जान सकेगा ?

[अर्जुन ने जो सात प्रश्न किये उन प्रश्नों के अनुसार भगवान् उत्तर दे रहे हैं]

श्रीभगवानुवाच—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

अन्वयः—श्रीभगवान् उवाच परमम् अक्षरम् ब्रह्म (उच्यते) । स्वभावः अध्यात्मम् उच्यते । भूतभावोद्भवकरः विसर्गः कर्मसंज्ञितः ।

अनुवाद—श्रीभगवान् कहते हैं—जो परम अक्षर अविनाशी है वही ब्रह्म है। स्वभाव को ही अध्यात्म कहा जाता है, जिसके द्वारा भूतसमूहों की (प्राणियों की) उत्पत्ति तथा क्रमशः वृद्धि होती है वह विसर्ग ही (अर्थात्

देवताओं की प्रीति के लिए द्रव्यों का विसर्जन अर्थात् द्रव्यत्याग रूप यज्ञको ही) कर्म कहा जाता है।

भाष्यदीपिका—श्रीभगवान् उवाच—[भगवान् बोले] ब्रह्म परमं अक्षरम्—[सप्तमाध्याय के अन्त में 'ते ब्रह्म तद्विदुः' (७।२९) इत्यादि कहा गया है। अब अर्जुन प्रश्न कर रहे हैं कि वह ब्रह्म सोपाधिक है या निरुपाधिक (सर्वोपाधिवर्जित) है ? उत्तर में भगवान् कह रहे हैं कि वह ब्रह्म (क) अक्षर (अविनाशी) है अर्थात् सत् है एवं (ख) परम है अर्थात् स्वयंप्रकाश (चित्) एवं परमानन्दस्वरूप है।] जो अपने स्वरूप से क्षरित (विच्युत) नहीं होता है उसे अक्षर कहा जाता है। अतः अक्षर शब्द का अर्थ है अविनाशी परमात्मा। ['अश्नुते वा सर्वमिति' अर्थात् सभी वस्तुओं में जो व्याप्त रहता है (सर्वव्यापक है) उसे भी अक्षर कहा जा सकता है। श्रुति में एतद्वै तदक्षरं गार्गि। ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनणु इत्यादि (बृह० उ० ३।८।८) अर्थात् हे गार्गि! ब्राह्मणगण (ब्रह्मविद्गण) इस अक्षर को अस्थूल अनणु इत्यादि कहकर 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि'। 'सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः नान्यदतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि अर्थात् हे गार्गि! इस अक्षर के ही प्रशासन में सूर्य तथा चन्द्र आकाश में विधृत टिके हुए हैं इससे भिन्न और कोई द्रष्टा नहीं है इत्यादि वाक्यों को मध्य स्थल में कहकर 'एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च' अर्थात् निश्चय इस अक्षर में ही आकाश ओतप्रोत है। इस प्रकार श्रुति ने उपसंहार किया है जो सभी उपाधियों से रहित है जो सर्वत्र शासन करने वाला है, अर्थात् जो अव्याकृत से लेकर आकाश पर्यन्त समग्र प्रपंचों के विधारक हैं (विशेष रूप से धारण करने वाला है) तथा देहेन्द्रियादि सभी के नित्य विज्ञाता (साक्षी) निरुपाधिक चैतन्य है उसीको यहाँ ब्रह्म बताना अभीष्ट है। 'परम' शब्द से यह ही वर्णित हो रहा है क्योंकि प्रशासन (सूर्य चन्द्र प्रभृति के यथानियम से शासन करना एवं समग्र जड़वर्ग के विधारणरूप धारण करना रूप जो लक्षण श्रुति में कहा गया है वह ऐसा निरुपाधिक चैतन्यस्वरूप ब्रह्म में ही सम्भव है। वेदान्तसूत्र में भी कहा गया है 'अक्षरमम्बरान्तधृतेः' (वे० द० १।३।१०) अर्थात् अक्षर शब्द से ब्रह्म को ही सूचित कर रहा है कारण अम्बरान्त अर्थात् पृथ्वी से आकाश तक समस्त दृश्यवर्गों को धारण करना ब्रह्म में ही सम्भव है।

प्रश्न—इस अध्याय के १३ वें श्लोक में कहा गया है 'ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म' अर्थात् ॐकार (प्रणव) यह एक अक्षर वाला ब्रह्म है। अतः यहाँ अक्षर शब्द के द्वारा प्रणव को ग्रहण किया जा रहा है ऐसा यदि कहे ?

उत्तर—यद्यपि अक्षर शब्द प्रणव में भी व्यवहृत होता है तथापि यहाँ परम यह विशेषण रहने के कारण एवं 'ॐ इत्येकाक्षरं इस श्लोक में अक्षर शब्द के द्वारा प्रणव को ग्रहण नहीं किया जा रहा है क्योंकि 'परम' यह विशेषण निरतिशय ब्रह्मरूप अक्षर में ही प्रयुक्त होता है। स्वभावः अध्यात्मम् उच्यते—जो ब्रह्मको परम तथा अक्षर कहा गया है इस परमब्रह्म का जो स्वभाव है [अर्थात् अन्तरात्मभाव (प्रतिदेह में अन्तरात्मरूप से स्थिति) है] उसका नाम स्वभाव है, वह स्वभाव ही अध्यात्म नाम से कहा जाता है [अर्थात् प्रत्येक आत्मा को (देह को) अधिकृत कर जो प्रत्यक् चैतन्य प्रत्येक पुरुष के अन्तरात्म भाव से अवस्थित रहता है एवं जो अन्त में परब्रह्मरूप परमार्थ वस्तु में ही परिसमाप्त होता है वही स्वभाव है एवं वही अध्यात्म शब्द के द्वारा अभिहित होता है।] [स्वभाव शब्द का 'स्वस्य भावः' (अर्थात् अपना भाव) इस प्रकार षष्ठीतत्पुरुष समास कर अर्थ करना युक्ति-युक्त नहीं होगा। यहाँ 'स्वः भावः (ब्रह्म स्वयं ही) भावः (स्वरूप है जिस प्रत्यक् चैतन्य का), इस प्रकार कर्मधारय समास कर अर्थ करना पड़ेगा क्योंकि जहाँ षष्ठीतत्पुरुष तथा कर्मधारय दोनों प्रकार के समास की सम्भावना रहती है वहाँ कर्मधारय समास ग्रहण करना चाहिए क्योंकि उसमें मुख्य पदार्थ का अन्वय रहता है। अतः ब्रह्म से सम्बन्ध रखने वाला नहीं किन्तु ब्रह्मस्वरूप जो प्रत्यक् चैतन्य देह में अधिष्ठित होकर भोक्तारूप से वर्तमान है वही स्वभाव या अध्यात्म है। अतः अध्यात्म का अर्थ करणग्राम (मन, बुद्धि या इन्द्रियसमूह) नहीं हैं (मधुसूदन)]। स्वभाव या अध्यात्म ब्रह्मस्वरूप ही है क्योंकि श्रुति में भी कहा गया है ' तत् सृष्ट्वा तदेवानु-प्राविशत्' अर्थात् परमात्माने जीव की सृष्टि कर उसमें स्वयं प्रत्यगात्मा रूप से प्रवेश किया भूतभावोद्भवकरः विसर्गः कर्मसंज्ञितः—भूतों का भाव (सत्ता) अर्थात् स्थावर जंगमात्मक जीवों का भाव (सत्ता) को 'भूतभाव' कहा जाता है। उसका उद्भव (उत्पत्ति) 'भूतभावोद्भव' है। भूतों के भाव की (वस्तु-सत्ता को) उत्पन्न करने वाले को 'भूतभावोद्भवकर' कहते हैं। ऐसा जो विसर्ग अर्थात् देवता के उद्देश्य से चरुपुरोडाशादि द्रव्य का त्याग करनारूप यज्ञ किया जाता है वही कर्म है। [अथवा शास्त्रविहित याग, दान तथा होमात्मक जो त्याग है (मधुसूदन) वही कर्मशब्द के द्वारा अभिहित होता है (कर्मसंज्ञितः)।] यज्ञरूप कर्म ही जीवों का बीजस्वरूप है। इसके द्वारा वृष्टि आदि के क्रम से स्थावर जंगमरूप समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है। मनुस्मृति में भी यही कहा गया है—'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।

आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः।' अर्थात् अग्नि में जो आहुति सम्यक् रूप से (विधिपूर्वक) प्रक्षिप्त होती है वह आदित्य में (सूर्य में) उपस्थित होती है आदित्य से वृष्टि समाधित होती है, वृष्टि से अन्न एवं अन्न से प्रजाओं की (जीवों की) उत्पत्ति होती है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—अर्जुन के प्रश्न के क्रम से 'अक्षरम्' इत्यादि तीन श्लोकों द्वारा उत्तर देते हुए श्रीभगवान् ने कहा—

अक्षरं परमं ब्रह्म—जिसका क्षरण (विचलन) नहीं होता है अर्थात् जो अपने स्वरूप से विचलित नहीं होता है वह अक्षर है। [प्रश्न होगा तब तो जीव भी अक्षर है ? इस लिये श्रीभगवान ने कहा 'परमम् अक्षरम्' अर्थात् जो परम (निरतिशय) अक्षर (अविनाशी) है एवं जगत का मूल कारण है, वह ब्रह्म है। श्रुति भी कहती है 'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति (बृह० ३।८।८) अर्थात् हे गार्गि ! यह निःसंशय वह अक्षर है जिसका वर्णन ब्राह्मण लोग (ब्रह्मविद्गण) करते हैं। स्वभावः अध्यात्मम् उच्यते—[स्वस्यैव भवनम् स्वभावः] स्वयं ब्रह्म का अंशतः जीव रूप से भवन (अर्थात् प्रकट होना) को स्वभाव कहते हैं अर्थात् जो परम ब्रह्म अक्षर है एवं जो आत्मा को (शरीर को) अधिकार कर (अधिष्ठान बनकर) भोक्ता रूप से वर्तमान रहता है—यही 'अध्यात्म' कहा जाता है। भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः—भूतों का जरायुज आदि प्राणियों का भाव (उत्पत्ति) और उद्भव (उत्कृष्ट रूप से होना) [अर्थात् मनु (३।७६) तथा मैत्रेयण्युपनिषद् में (६।३७) जैसा कहा है कि अग्नि में विधि के अनुसार भलीभाँति डाली हुई आहुति सूर्य में स्थित होती है, सूर्य से वृष्टि होती है वृष्टि से अन्न उत्पन्न होता है और उससे प्रजा उत्पन्न होती है उस प्रकार से उद्भव अर्थात् वृद्धि प्राप्त होना (बढ़ना)—भूतों की उत्पत्ति और वृद्धि] इन दोनों का करने वाला जो विसर्ग है वह कर्म है। देवताओं को उद्देश्य कर जो द्रव्य का त्याग (आहुति) रूप यज्ञ किया जाता है उसे विसर्ग कहते हैं। यद्यपि यहाँ कर्म-शब्द का अर्थ यज्ञ है तथापि वह यज्ञ समस्त कर्मों का ही उपलक्षण है।

(२) शंकरानन्द—'वह ब्रह्म क्या है' इत्यादि से अर्जुन ने सात प्रश्नों को क्रम से पूछा। जिससे उनके सम्बन्ध में अर्जुन को अर्थज्ञान सुगमता से हो इसलिए अपने अभिमत अर्थ को श्रीभगवान 'अक्षरम्' इत्यादि से कह रहे हैं—अक्षरं-'अजो नित्यः शाश्वतः' ('अज, नित्य, शाश्वत') इस श्रुति से स्पष्ट होता है कि ज्ञान, अज्ञान, काल अथवा अन्य किसी वस्तु के द्वारा जो क्षर अर्थात नष्ट नहीं होता है वह अक्षर है। अथवा जिस प्रकार अग्नि लोहे के

पिण्ड को व्याप्त करता है उस प्रकार अव्याकृत और उसके समस्त कार्यों को जो बाहर भीतर चारों ओर से व्याप्त करता है वह अक्षर है। वह अक्षर ही सत्य, ज्ञान आदि रस परमं ब्रह्म—है क्योंकि 'एतद्वै तदक्षरं गार्गि' ('हे गार्गि ! यही वह अक्षर है') ऐसा श्रुतिवाक्य है।

शंका—'ॐ मित्येकाक्षरम्' (ॐ यह एक अक्षर है) इससे तथा 'संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च' (यह क्षर तथा अक्षर संयुक्त है) इससे प्रणव तथा (प्रपञ्च के कारणभूत) अव्यक्त में भी अक्षरत्व सुनने में आता है। अतः ऐसी अवस्था में ब्रह्म का ही अक्षरत्व कैसे सिद्ध हो सकता है ?

समाधान—ऐसी शंका युक्त नहीं है क्योंकि अक्षर ब्रह्मवाचक है, इसलिए प्रणव (ब्रह्म का वाचक होने के कारण) अक्षर है। प्रणव नित्य है, इसलिये वह अक्षर है ऐसी बात नहीं क्योंकि 'वह प्रकृति में लीन होता है' इस प्रकार के वचन से प्रणव का प्रलय सुनने में आता है। इसलिए क्षर की अपेक्षा अव्यक्त (प्रकृति अक्षर है, नित्यत्व के कारण नहीं क्योंकि 'क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः' (क्षर प्रधान है, अमृत (मरणरहित) हर (परब्रह्म) अक्षर है') इस वाक्य से यही स्पष्ट होता है कि प्रकृति क्षर है तथा परब्रह्म ही अक्षर है। इसलिए एकमात्र ब्रह्म ही अक्षर है, उससे अतिरिक्त और कोई भी अक्षर नहीं है।

शंका—तब तो विशेषण की (अर्थात् 'परमम्' शब्द की) व्यर्थता होगी, ऐसा यदि कहा जाय ?

समाधान—नहीं, इस प्रकार कहना युक्त नहीं है क्योंकि सबसे ब्रह्मकी विलक्षणता निर्वाहक होने के कारण वह विशेषण सार्थक है। क्षर एवं अक्षर पदार्थस्वरूप से दोनों ही समान है किन्तु 'परम' इस विशेषण से निरवयवत्व, निष्क्रियत्व, नित्यत्व, निःसंगत्व, नित्यशुद्धत्व, निरतिशयत्व, अतिसूक्ष्मत्व, सद्घनत्व, चिद्घनत्व, आनन्दघनत्व, सर्वव्यापकत्व, सर्वप्रकाशकत्व, सर्वाधारत्व आदि धर्मों से ब्रह्म की सर्वोत्तमता प्रतिपादित होती है। श्रुति में भी है—'महतोऽव्यक्तमुत्तमम्' ('महत् से अव्यक्त उत्तम है') एवं 'अव्यक्तात्तु परः पुरुषः' ('अव्यक्त से भी परम पुरुष अर्थात् ब्रह्म उत्तम है')। इस प्रकार के विशेषणों से विशिष्ट अक्षर ब्रह्म पूर्वोक्त ब्रह्मपद का अर्थ है। इस प्रकार ब्रह्मशब्द का अर्थ व्यक्त कर अध्यात्मपद का अर्थ सूचित कर रहे हैं। स्वभावः अध्यात्म उच्यते—यहाँ आत्मा शब्द का अर्थ है बुद्धिपर्यन्त देह। जिस प्रकार सूर्य ब्रह्मांड को आलोकित करता है उसी प्रकार आत्मा को (बुद्धिपर्यन्त देहादि को) प्रकाशित करने के लिए देहेन्द्रियों को अवलम्बन कर जो

स्थित है वह 'अध्यात्म' है। यह अध्यात्म परब्रह्म का स्वभाव अर्थात् स्वरूप है। [स्वभावःस्व (स्वयं) भावः (होता है)।] वह स्वभाव अध्यात्म (अर्थात् परमब्रह्म) है क्योंकि परमब्रह्म स्वयं ही प्रत्येक शरीर में प्रत्यक्रूप से ('अहम्' के अर्थरूप से) आत्मा या ज्ञाता होता है। जिस प्रकार घट आदि में विद्यमान आकाश महाकाश के स्वभाव के साथ युक्त होता है उस प्रकार ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब तक समस्त शरीरों में (अहं) के अर्थ रूप से चैतन्य ही (ब्रह्म चैतन्य ही) विद्यमान है। इसलिए 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों की प्रवृत्ति जीव और ब्रह्म इन दोनों के एकत्व प्रतिपादन करने में है। जिस कारण से इस प्रकार होता है इसलिये परब्रह्म का स्वभाव ही (प्रत्यक् चैतन्य स्वरूप से प्रत्येक देह में स्थिति ही) अध्यात्म है, ऐसा कहा जाता है—प्राण, इन्द्रिय आदि 'अध्यात्म' नहीं है। भूतभावोद्भवकरः—भूतभाव का अर्थ है भूतरूप भाव अर्थात् स्थावर जंगमरूप पदार्थ, उनका उद्भव अर्थात् उत्पत्ति उद्भव शब्द जरा, मरण आदि का उपलक्षण है। उनको (अर्थात् सभी भूतों की उत्पत्ति तथा जरामरण इत्यादि को) जो करता है वह भूतभावोद्भवकर है। विसर्गः कर्मसंज्ञितः—देवता के उद्देश्य से द्रव्य का त्याग अर्थात् श्रौत, स्मार्त आदि रूप यज्ञ कर्म जो वृष्टि आदि के द्वारा समस्त प्राणियों के जन्म का कारण है, वही कर्म है। यहाँ कर्म शब्द से चलनादि क्रिया को नहीं समझाया जा रहा है।

(३) नारायणी टीका—(१) परमम् अक्षरं ब्रह्म—'यन्न क्षीयते न क्षरतीति तदक्षरम्' अर्थात् जिसका क्षय (नाश नहीं है) वह अक्षर है। श्रुति में इस अक्षर के सम्बन्ध में कहा है कि यदूर्द्ध्वं दिवो, यदवाक् पृथिव्याः, यदन्तराद्यावा इत्यादि अर्थात् जो स्वर्ग के उद्ध्वं में, पृथिवी के नीचे स्वर्ग तथा पृथिवी के मध्य में, भूत भविष्यत् तथा वर्तमान में, आकाश को भी व्याप्त कर सदा ही एकरूप में स्थित है वही अक्षर है ['याज्ञवल्क्य होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि', याज्ञवल्क्य ने गार्गी को कहा वही अक्षर है।] वह अक्षरपुरुष न स्थूल है, न ह्रस्व है, न सूक्ष्म है, न दीर्घ है, न वायु है, न आकाश है—वह तो असंग, अरस, अगन्ध है, वह सर्वेन्द्रियविवर्जित, निरवयव (देह से रहित), अपरिमेय (अनन्त), अन्तरबाह्यशून्य है, 'न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन' (वह कुछ भी भोजन नहीं करता और उसको भी कोई भोजन नहीं करता (बृह. उ. ३।८-११) इस प्रकार से श्रुति में निर्गुण—अव्यय, अनिर्देश्य सर्वोपाधिरहित शुद्धचैतन्यस्वरूप ब्रह्म को ही अक्षर कहा गया है वह अक्षर ब्रह्म ही माया को आश्रय कर सगुण होकर सृष्टिस्थितिप्रलय का

कारण होता है। इसलिये श्रुति कहती है–'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत' इत्यादि अर्थात् इसके प्रशासन से सूर्य, चन्द्र, भूलोक, द्युलोक (स्वर्गलोक) यथास्थान में धृत हुए हैं, निमेष, मुहूर्त, दिन–रात, मास, वत्सर इत्यादि यथाकाल परिक्रमण कर रहे हैं। अन्त में श्रुति कहती है—'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वा जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्ष-सहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवति' अर्थात् हे गार्गि ! इस अक्षर को न जानकर जो इहलोक में यज्ञों में आहूति देते हैं बहुवर्षों तक तप करते हैं उनका कर्मफल क्षयशील (नाशवान्) होता है। अतः श्रुति में अक्षर शब्द निर्गुण व सगुण ब्रह्म दोनों में ही प्रयुक्त हुआ है। गीता में 'कुटस्थोऽक्षर उच्यते' (गीता १५।१६) अर्थात् जो जीव चैतन्य कोई प्रकार विकार प्राप्त न होकर प्रत्येक देह में भोक्तारूप से विद्यमान रहता है वह अक्षर है, ऐसा कहा गया है। इस अक्षर पुरुष से जो उत्तम है (अर्थात् मायोपाधि से रहित शुद्ध चैतन्य स्वरूप निर्गुण ब्रह्म है) वह पुरुषोत्तम है। अतः श्रुति तथा गीता में अक्षरशब्द कभी (क) निर्गुण ब्रह्म में (सर्वोपाधिरहित शुद्धचैतन्य में) (ख) कभी सगुण ब्रह्म में (मायोपाधियुक्त ईश्वर चैतन्य में) एवं (ग) कभी अविद्या-उपाधियुक्त जीव चैतन्य में (प्रत्यगात्मा जो भोक्तारूप से विद्यमान है उसमें) प्रयुक्त हुआ है। किन्तु इसमें कोई विरोध नहीं है क्योंकि एक ही शुद्धचैतन्य (सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म) उपाधि भेद से ईश्वररूप से एवं जीवरूप से प्रतीत होता है। वस्तुतः नित्य व अविकारी होने के कारण सर्वावस्था में वह (ब्रह्म) एक ही है। इसलिये उपाधियुक्त होनेपर भी उसे अक्षर कहा जाता है। निर्गुण सत्ता ही ब्रह्म या परमात्मा का पारमार्थिक स्वरूप है। इसलिये ईश्वर व जीव से ब्रह्म को पृथक् व उत्तम (श्रेष्ठ) बतलाने के लिये श्रीभगवान ने अक्षर का विशेषण रूप से 'परम' शब्द का प्रयोग कर कहा–परम (निरतिशय अर्थात् सर्वोपाधि-रहित अतः सबसे श्रेष्ठ) अक्षर (अविनाशी शुद्धचैतन्यस्वरूप) ही ब्रह्म है। इस अक्षर की (परम अक्षर पुरुष की) उपासना से क्या फललाभ होता है ? वह भगवान १२।३–४ श्लोकों में स्पष्ट करेंगे।

(२) स्वभावः अध्यात्ममुच्यते—ब्रह्म या परमात्मा का यथार्थस्वरूप है 'परम अक्षर' इसको 'तत्' कहा जाता है। यद्यपि उस स्वरूप का कदापि कोई परिवर्तन नहीं होता है तथापि वह जीव (माया से) उपाधियुक्त होकर देह को अधिकार कर भोक्तृभाव प्राप्त हुआ है ऐसा प्रतीत होता है तब उसको अध्यात्म—कहा जाता है [स्व (स्वरूप) भाव (भोक्तृभाव अर्थात् जीव-भाव) प्राप्त होता है। उस अवस्था को ब्रह्म का स्वभाव माना जाता है एवं

आत्मा को (देहेन्द्रियादि को) अधिकार करके वह भाव विद्यमान रहता है, इसलिये वह अध्यात्म है।] अतः परम अक्षर ब्रह्म या परमात्मा है एवं स्वभाव अध्यात्म अर्थात् जीव है।

(३) भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः—भूतों का जिससे भाव (उत्पत्ति) और उद्भव (वृद्धि) होती है इस प्रकार विसर्ग को (देवताओं के उद्देश्य से द्रव्यादि का त्यागरूप यज्ञ को) कर्म कहा जाता है। अग्निहोत्रादि यज्ञ में अग्नि मे जो आहुति दी जाती है वह आदित्य में (सूर्य में) चली जाती है। आदित्य से वृष्टि एवं वृष्टि से अन्न उत्पन्न होता है एवं अन्न से जीव की उत्पत्ति तथा वृद्धि होती है। इस प्रकार विसर्ग को कर्म कहते हैं। त्यागसहित यज्ञ जो भूतवर्गकी उत्पत्ति तथा वृद्धिका हेतु होता है वह विसर्ग है और वह ही यथार्थ कर्म है। यज्ञ दो प्रकार के हैं–(१) द्रव्यमय यज्ञ, (२) ज्ञानयज्ञ। देवताओं के उद्देश्य से त्यागलक्षणयुक्त द्रव्यमय यज्ञ से भूतवर्ग का कल्याण होता है एवं कर्मकर्ता की भी चित्तशुद्धि होती है और परमात्मा में सर्वकर्मसमर्पणरूप त्यागविशिष्ट ज्ञानयज्ञ से अपना कल्याण होता है अर्थात् भगवतत्प्राप्ति तथा परमशान्ति प्राप्ति होती है (गीता ९।२७–२८, १२।११-१२)। जो कर्म में त्यागभाव नही है (फल में आसक्तिहीनता या निष्कामवृत्ति नहीं है) वह वृथा कर्म है क्योंकि वह जन्ममरण का हेतु होता है। यही 'विसर्ग' शब्द का तात्पर्य है।

[अब अधिभूत किसे कहा जाता है, अधिदैव किसे कहा जाता है तथा अधियज्ञ किसे कहा जाता है ? इन तीनों प्रश्नों का उत्तर दे रहे हैं—]

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

अन्वयः—हे देहभृतां वर ! क्षरः भावः अधिभूतम्, पुरुषः च अधिदैवतम्; अत्र देहे अहम् एव अधियज्ञः।

अनुवाद—हे जीवश्रेष्ठ नश्वर (देहादि) पदार्थ अधिभूत है, (आदित्य-मंडल के मध्यवर्ती) पुरुष ही अधिदैव है; इस देह में मैं ही अधियज्ञ हूँ (अर्थात् अन्तर्यामी के रूप में अवस्थित मैं ही यज्ञाधिष्ठाता यज्ञादि का प्रवर्त्तक तथा फलदाता हूँ)।

भाष्यदीपिका—हे देहभृतां वर—हे देहधारी पुरुषों में श्रेष्ठ अर्जुन, जो प्रतिक्षण में भगवान् के मुख से साक्षात् रूप से उपदेश सुन रहा है, जिसके

ऊपर भगवान् की ऐसी कृपा है उससे बढ़कर श्रेष्ठ पुरुष और कौन हो सकता है ? इस लिए ही श्रीभगवानने ऐसा सम्बोधन किया क्षरः भावः अधिभूतम्--जो क्षरित होता है (विनाश प्राप्त होता है) उसका नाम क्षर है। भावशब्द का अर्थ है जो कुछ भवनशील है अर्थात् जन्मशील वस्तु भूतवर्ग को अर्थात् प्राणियों को अधिकार कर (प्राणिमात्र को आश्रित किये) जो रहता है उसे अधिभूत कहा जाता है। वह वस्तु क्या है ? उसके उत्तर में कह रहे हैं—क्षरः भावः अर्थात् क्षर (विनश्वर) भाव (जन्मशील) देहादि वस्तु जो प्राणियों को आश्रित किये रहती है, वह अधिभूत शब्द के द्वारा अभिहित होती है अर्थात् उसे अधिभूत कहा जाता है। पुरुषः च अधिदैवतम्--जिसके द्वारा समस्त जगत् पूर्ण है अथवा जो देहरूप पुर में विराजमान होकर सदा एकरूप से रहता है वह ही पुरुष है। वह कौन है ? जो आदित्यमंडल में अवस्थान कर सभी प्राणी की सभी इन्द्रियों का नियमन करके अनुग्राहक होते हैं वह विराट् या हिरण्यगर्भ ही वह पुरुष है। उस पुरुष को अदिदैवत कहा जाता है अर्थात् समष्टि लिंग देहरूप हिरण्यगर्भ ही अधिदैवत हैं क्योंकि वह आदित्यादि देवताओं का अधिष्ठाता होकर व्यष्टि जीवों के चक्षुः प्रभृति इन्द्रियों का अनुग्राहक होता है। अभिप्राय यह है कि समष्टि लिंग शरीर रूप हिरण्यगर्भ ही व्यष्टिभूत प्रत्येक जीव की इन्द्रियों को प्रेरित करते हैं। जीव की प्रत्येक इन्द्रिय का अधिपति एक एक देवता हैं जैसे कि आँख का देवता है सूर्य, हाथ का देवता है इन्द्र इत्यादि। वे देवताएँ तत्तत् इन्द्रियों के ऊपर आधिपत्य कर उन्हें अपने-अपने विषय में प्रेरित करती हैं। फिर हिरण्यगर्भ नामक समष्टि लिंगात्मा पुरुष के द्वारा वे देवतागण भो स्व स्व कार्य में प्रवृत्त होते रहते हैं। [इसलिए हिरण्यगर्भ को सभी देवताओं का अधिपति कहा जाता है (श्रीधर)]। श्रुति में भी हिरण्यगर्भ के सम्बन्ध में ऐसा ही कहा गया है। 'आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः' (बृह० उ०) अर्थात् प्रारम्भ में (जीवों की सृष्टि के पहले) केवल पुरुषाकार आत्मा ही थी। इस प्रकार आरम्भ कर "स यत् पूर्वऽस्मात् सर्वस्मात् सर्वान्पापान् औषत्तस्मात्पुरुषः" अर्थात् क्योंकि वह सभी के (समस्त प्रपञ्च से पहले थे और उसने समस्त पापों को (अर्थात् हिरण्यगर्भत्व लाभेच्छु आसक्तिपूर्ण अन्यान्य व्यक्तियों को पहले ही) दग्ध कर दिया था इसलिये वह 'पुरुष' कहलाता था। इस प्रकार श्रुति में समष्टिलिंगशरीर को ही हिरण्यगर्भ के रूप में वर्णन किया। 'पुरुषश्च' इस पद में 'च' का तात्पर्य यह है कि स्मृति में भी इसी प्रकार ही पुरुष का हिरण्यगर्भ का) वर्णन किया गया है। 'स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते।

आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माऽग्रे समवर्तत' ।। अर्थात् वह ही प्रथम (सबसे पहले) देहधारी, वह ही पुरुष नाम में अभिहित होता है, वह समस्त जीवों के आदि कर्ता ब्रह्म सबसे पहले विद्यमान था—इसप्रकार स्मृतिने भी अधिदैवत पुरुष का प्रतिपादन किया (मधुसूदन)। अत्र देहे अहम् एव अधियज्ञः— इस देह में ही अन्तर्यामी रूप से मैं ही अधियज्ञ हूँ अर्थात् सभी यज्ञ के अभिमानी (एवं सभी यज्ञ के फलदाता) विष्णु नाम से जो प्रसिद्ध हैं उसको ही अधियज्ञ कहा जाता है क्योंकि श्रुति में कहा गया है 'यज्ञो वै विष्णुः' अर्थात् (विष्णु ही यज्ञ है)। मैं वासुदेव ही वह अधियज्ञ विष्णु हूँ। मनुष्य देह में ही यज्ञ की स्थिति है क्योंकि यज्ञ मनुष्य देह से ही निष्पन्न होनेवाला है। देह को अधिकार कर (आश्रय कर) जो यज्ञ है उसका अधिष्ठाता वह विष्णुरूप 'अधियज्ञ' मैं ही हूँ अर्थात् अधियज्ञ के रूप में मैं ही विद्यमान हूँ अर्थात् आत्मा से भिन्न और कोई अधियज्ञ नहीं हैं। इस ब्रह्म के साथ अत्यन्त अभिन्न रूप से ही उस अधियज्ञ विष्णु की चिन्ता करना पड़ेगा इसके द्वारा किस प्रकार (कथं) चिन्ता करना पड़ेगा इस प्रश्न की व्याख्या की गयी पहले ही कहा गया कि यज्ञ शरीर से ही सम्पादित होता है, अतः यज्ञ का शरीर से नित्य सम्बन्ध है, इस लिये वह शरीर में रहने वाला माना जाता है कहने का अभिप्राय यह है कि देह के द्वारा सिद्ध होने के कारण यज्ञ (एवं यज्ञ का फल) देह में रहता है अर्थात् लिंगदेह को अधिकरण (आश्रय) करता है। अतः यज्ञाभिमानिनी देवता भी इसी प्रकार बुद्ध्यादि से पृथक् रूप से देह में ही रहती है। श्रुति में कहा गया है।

'पुरुषो वै यज्ञः पुरुषस्तेन यज्ञो यदेनं पुरुषस्तनुते' अर्थात् पुरुष ही यज्ञ है क्योंकि पुरुष यज्ञ सम्पादन करता है इस लिये पुरुष ही यज्ञस्वरूप है। चुँकि वह ही विष्णु हैं (सर्वव्यापक) अतः वह मनुष्य देह को प्राप्त कर पृथक् रूप से रहता है। इस देह में ही मैं अधियज्ञ रूप से वर्तमान हूँ, इस प्रकार उत्तर देकर श्रीभगवान् ने 'वह क्या इस देह में ही हैं या देह के बाहर। यदि इस देह में ही हैं तब वह कौन हैं ? वह क्या बुद्धि प्रभृति रूप में अवस्थित हैं अथवा उससे पृथक् रूप से' इस प्रकार जो संशय उपस्थित किये गये थे उनका निराकरण किया।

टिप्पणी (१) श्रीधर—क्षरः भावः अधिभूतम्—क्षर (विनाशशील) भाव (शरीरादि पदार्थ) भूतमात्र को (प्राणिमात्र को) अधिकृत कर उत्पन्न होता है इसलिए शरीरादि को अधिभूत कहा जाता है। पुरुषः च अधिदैवतम्—पुरुष अर्थात सूर्य मण्डल में रहने वाला हिरण्यगर्भ अपने

अंशरूप समस्त देवताओं का अधिपति है। इस लिये हिरण्यगर्भ को अधिदैवत (अर्थात् सब देवताओं की अधिष्ठाता देवता) कहा जाता है। श्रुति में यही कहा गया है—'स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते। आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत, (निःसंशय वही प्रथम (पहला) देहधारी है—वही पुरुष कहा जाता है। समस्त प्राणियों का आदिकर्ता ब्रह्मा पहले से ही विद्यमान है)। अत्र अहम् एव अधियज्ञः—इस शरीर में (अत्र) अन्तर्यामी रूप से स्थित हुआ मैं ही अधियज्ञ हूँ अर्थात् यज्ञ का अधिष्ठाता देवता (यज्ञादि कर्मों का प्रवर्तक तथा उनका फलदाता) मैं ही हूँ। अर्जुन ने प्रश्न किया (अधियज्ञ पुरुष) कैसे है? अभी भगवान् ने जो कहा उससे उसका उत्तर दिया गया। अभिप्राय यह है कि असंगता आदि गुणों के कारण अन्तर्यामी का जीवों से विलक्षण रूप से देह में विद्यमान रहना प्रसिद्ध है। श्रुति भी कहती है—द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यश्नन्नन्यो अभिचाकशीहि ॥ (मु० उ० ३।१, श्वेता० उ० ४।६, ऋग्वेद २।३।१७) अर्थात् एक साथ रहते हैं एवं परस्पर सखाभाव भी रखते हैं ऐसे दो पक्षी (जीव एवं परमात्मा) एक ही देहरूप वृक्ष का आश्रय लेकर रहते हैं। उन दोनों में से एक तो स्वादिष्ट फल खाता है (विषयसुख भोग करता है) और दूसरा कुछ खाता नहीं किन्तु देखता रहता है। देहभृतां वर—हे देहधारियों में श्रेष्ठ। भगवान का इसप्रकार सम्बोधन करने का उद्देश्य यह है कि तुमको भी अपनी प्रवृत्ति-निवृत्ति के अन्वयव्यतिरेक द्वारा उस अन्तर्यामी को जान लेना चाहिए [जो चैतन्यसत्ता शरीर में विद्यमान रहने से प्रत्येक जीव कर्म में प्रवृत्त होता है अथवा कर्म से निवृत्त होता है (अन्वय) किन्तु जो शरीर को छोड़ देने पर शरीरादि की प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति का सम्भव नहीं होता (व्यतिरेक), वही अन्तर्यामी पुरुष है। इसप्रकार अन्वयव्यतिरेक द्वारा एक ही शरीर में रहने वाले अन्तर्यामी को जीव से विलक्षण (पृथक्) रूप से जान लेना चाहिए।]

(२) शंकरानन्द—'अधिभूतम्' इत्यादि क्षरः भावः—जिसका क्षरण या नाश होता है वह क्षर भाव है अर्थात् समस्त नश्वर पदार्थ को अधिभूतं—अधिभूत कहा जाता है। कारण, कार्य इत्यादि भेद यहाँ विवक्षित नहीं है किन्तु अपने कर्म के अनुसार जो कुछ उत्पन्न होता है वह समस्त उत्पत्तिशील वस्तुएँ अधिभूत हैं यही अर्थ है। अधिदैवतम् च—अधिदैव तो पुरुषः—पुरुष है [जिससे समस्त कार्यसमूह पूर्ण हैं अथवा जो समष्टिदेहरूप पुरी में शयन करता है, वह पुरुष है] अर्थात् हिरण्यगर्भ। 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे

भूतस्य' ('हिरण्यगर्भ समस्त भूतों के अग्र में (पहले) भी') इस श्रुति में उक्त समष्टि व्यष्टि समस्त शरीरों का अभिमानी एवं सभी प्राणियों को इन्द्रियों को जो देवता शक्ति प्रदान करती है उसे अधिदैव कहा जाता है। च—'च' शब्द श्रोत्रादि चतुर्दश इन्द्रियों के प्रवर्तक जो दिक्, वायु, सूर्य आदि देवता है उनके समुच्चय के लिए व्यवहार किया गया है [अर्थात् अधिदैवत पुरुष हिरण्यगर्भ केवल इन्द्रियों को शक्ति प्रदान नहीं करता परन्तु भिन्न-भिन्न इन्द्रिय की प्रवर्तक रूप से जो पृथक् पृथक् देवता हैं उनको भी शक्ति हिरण्यगर्भ से ही प्राप्त होता है। यही कहने का अभिप्राय है।] अधियज्ञः—अधियज्ञ (जो किया जाता है वह यज्ञ है अर्थात् श्रौत तथा स्मार्त क्रियात्मक पूर्वोक्त 'विसर्ग' ही यज्ञ हैं। उनको अधिकृत कर प्रवर्तक व फलदाता रूप से जो स्थित रहता है वह अधियज्ञ है) अहम् एव—मैं ही अधियज्ञ हूँ क्योंक प्राणियों के कर्म तथा कर्मफल का विभाग, उसका परिपाक, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का कर्ता अत्र देहे—इस देह में मैं ईश्वर ही नियन्ता हूँ। 'यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः पाच्यांश्च सर्वान् परिणामयेद्यः' (जो विश्वयोनि स्वभाव को बनाती है एवं परिपाक के योग्य समस्त पदार्थों को परिणति कराती है'), 'एषोऽन्तर्याम्येष योनिः' ('यही अन्तर्यामी है, यही योनि है') 'एष ह्येव साधुकर्म कारयति' ('यही साधुकर्म कराते हैं') ऐसे श्रुति वाक्य हैं। 'पृथिव्यां तिष्ठन्' ('पृथ्वी में स्थित होकर') इत्यादि में (क) पृथ्वी आदि के नियन्ता मेरा निराकार रूप से नियम्य के साथ अभिन्नत्व, (ख) सर्व पदार्थ से मेरे स्वरूपका भिन्नत्व तथा पृथिवी आदि का अगोचरत्व (पृथिवी आदि मुझको नहीं जान सकती यह) यह श्रुति के द्वारा ही कहा जाता है। इसके द्वारा यही सिद्ध होता है कि न तो मुझमें साकारत्व है और न मुझमें विकारित्व है इसप्रकार इस देह में स्थित रहता हूँ। इस प्रकार अध्यात्म, कर्म, अभिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञ स्वरूप से सभी के आत्मारूप में स्थित मुझ परब्रह्म में (अज्ञानवश साकारत्व, विकारित्व, दृश्यत्व इत्यादि जो कुछ) विपरीत प्रत्यय रहता है उसका निःशेषतया त्यागपूर्वक 'सब ब्रह्म ही है', इसप्रकार एकाकार वृत्ति से जरा-मरण प्रवाह से मुक्तिकामी पुरुष को नित्य उपासना करनी चाहिए, यही प्रश्न तथा उत्तर दोनों का तात्पर्य है।

(३) नारायणी टीका—हे देहभृतां वर–सर्वप्राणियों में श्रेष्ठ [अर्जुन भगवान का सखा एवं भगवान से साक्षात्भाव से उपदेश प्राप्त कर रहा है अतः इस प्रकार महाभाग्यवान् अर्जुन को सर्वप्राणियों में श्रेष्ठ माना जायगा इसमें संशय की बात ही क्या है ?] क्षरः भावः अधिभूतम्—क्षर अर्थात्

क्षयशील (प्रतिक्षण में परिणाम तथा क्षय प्राप्त होनेवाले) भाव (जन्मशील देहादि पदार्थ) को अधिभूत कहा जाता है अर्थात् स्थूल या सूक्ष्म देहादि पदार्थ भूतवर्ग को (प्राणि समूह को) अधिकार करके ही उत्पन्न होते हैं एवं नित्यपरिवर्तन प्राप्त होकर नाश प्राप्त होते हैं। वे शरीरादि ही अधिभूत हैं। [यह अर्जुन के पञ्चम प्रश्न का उत्तर है।] पुरुषः च अधिदैवतम्—जो समस्त विश्व को पूर्ण कर स्थित रहते हैं अथवा समस्त पुर में (जीव के हृदय में) वास करते हैं उनको पुरुष कहते हैं। इस प्रकार पुरुष अधिदैव हैं अर्थात् समस्त देवता उन पुरुष का अंगीभूत होने के कारण समस्त देवताओं को अधिकार कर वे विद्यमान हैं, इसलिये उनको अधिदैव कहते हैं। भिन्न भिन्न देवताओं की जो शक्ति देखी जाती है वह अधिदैव की ही (समष्टि पुरुष हिरण्यगर्भ की ही) शक्ति है। यह अधिदैव पुरुष ही आदि (प्रथम) शरीरी हैं। इनको भूतस्रष्टा ब्रह्मा या हिरण्यगर्भ नाम से अभिहित करने पर भी इनका अनेक नाम हैं। स्मृति व पुराण में उनके सम्बन्ध में इस प्रकार विवरण है—

अग्रे हिरण्यगर्भः स प्रादुर्भूतः सनातनः,
आदित्वादादिदेवोऽसावजत्वादजःस्मृतः ।
देवेषु स महादेवो महादेव इति स्मृतः,
पाति यस्मात् प्रजाः सर्वाः प्रजापतिरिति स्मृतः ॥
बृहत्वाच्च स्मृतो ब्रह्मा परत्वात् परमेश्वरः,
वशित्वादप्यवश्यत्वादीश्वरः परिभाषितः ।
ऋषिः सर्वत्र गत्वेन हरिः सर्वहरो यतः,
अनुत्पादात् चानुपूर्वात् स्वयम्भूरिति स स्मृतः ॥
नराणामयनं यस्मात् तस्मान्नारायणः स्मृतः,
हरः संसारहरणात् विभूत्वाद् विष्णुरुच्यते ।
भगवान् सर्वविज्ञानादवनादोमिति स्मृतः,
सर्वज्ञः सर्वविज्ञानाच्छन्दः सर्वमयो यतः ।
शिवः स्यान्निर्मलो यस्माद्विभुः सर्वगतो यतः,
तारणात् सर्वदुःखानां तारकः परिगीयते ॥
बहुनात्र किमुक्तेन सर्वं विष्णुमयं जगत्,

[सनातन पुरुष हिरण्यगर्भ ही पहले प्रादुर्भूत हुए थे। सबका आदि होने के कारण वे आदिदेव हैं, जन्मरहित होने के कारण वे अज हैं, देवताओं में प्रधान होने के कारण वे महादेव, समस्त प्रजा के पालनकर्ता होने के कारण

वे प्रजापति, सबसे बृहत् होने के कारण वे ब्रह्मा श्रेष्ठ होने के कारण वे परमेश्वर हैं वे सबको वशीभूत करनेवाले हैं किन्तु किसी से वशीभूत नहीं होते हैं इसलिये वे ईश्वर हैं, सर्वत्र गमनशील होने के कारण वे ऋषि हैं, समस्त हरण कर लेते हैं इसलिये वे हरि हैं, पहले से ही उत्पन्न नहीं हुए इसलिये वे स्वयम्भू है, नरका (जीव का) आश्रय स्थान है इसलिये वे नारायण हैं, संसार का हरण कर लेते हैं इसलिये वे हर हैं, विभु (सर्वव्यापी) हैं इसलिये वे विष्णु हैं, सब कुछ जानते हैं इस कारण वे भगवान हैं, अज्ञान को दग्ध करते हैं इस कारण वे ॐ हैं, निरतिशय निर्मल होने के कारण वे शिव हैं, सर्वत्र विद्यमान रहने के कारण वे विभु हैं, सर्वदुःख से तारण उद्धार) करते हैं इसलिये वे तारक हैं। अधिक कहने का क्या प्रयोजन—समस्त जगत् तो विष्णुमय ही है। उक्त वचनां से यह ही सिद्ध होता है कि नाम में भेद होनेपर भी एक ही अद्वितीय चैतन्यसत्ता जिसको वेद-पुराणों मे ब्रह्म, भगवान या परमात्मा कहते हैं वे ही उपाधि भेद से भिन्न-भिन्न नाम तथा रूप में अज्ञान से प्रतीत होते हैं। आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होने से सब आत्मा में पर्यवसित समाप्त होकर एकाकार हो जाते हैं। अहम् एव अधियज्ञः—वेद के मन्त्र तथा ब्राह्मण भाग द्वारा अनुशासित होकर देवता के उद्देश्य से जो हवन सामग्री का त्याग किया जाता है उस कर्म को साधारणतः यज्ञ (द्रव्ययज्ञ) कहा जाता है। किन्तु भगवान में अर्पण करते हुए जो कर्म किया जाता है वह भी यज्ञ (ज्ञानयज्ञ) है। अतः भगवान कह रहे हैं कि यह कर्ममय शरीर में मैं (सर्वभूतात्मा वासुदेव अथवा सर्वव्यापी होने के कारण विष्णु रूप से) अधियज्ञ हूँ अर्थात् यज्ञ को अधिकार कर यज्ञ के अधिष्ठाता देवता मैं ही हूँ क्योंकि मनुष्य देह में अन्तर्यामीरूप से मैं ही यज्ञादि कर्मों का फलदाता हूँ। [भगवान सभी कर्मों का फलदाता है तथापि जो कर्म अधियज्ञ पुरुष को उद्देश्य कर द्रव्ययज्ञ या ज्ञानयज्ञ में परिणत नहीं होता है वह मनुष्य की अधोगति या नाश का कारण होता है, यही यहाँ अधियज्ञ शब्द से सूचित किया जा रहा है।] ३–४ श्लोकों में भगवान के कहने का तात्पर्य यह है कि जो परम अक्षर (अविनाशी) ब्रह्म—है वही जीवरूप में अध्यात्म—है-सर्व कर्म उनके भोग के लिये है अतः उनमें आहुति देकर जो कर्म किया जाय वही यथार्थ कर्म—है। उनकी माया से प्राणियों का विनाशशील देहादि की उत्पत्ति तथा नाश देखे जाते हैं किन्तु इन मिथ्या दृश्य-समूह की अधिष्ठान सत्ता व परमब्रह्म ही है। अतः वे ही अधिभूत भी हैं। हिरण्यगर्भ परब्रह्म की ही विभूति है अतः अधिदैव—भी वे ही हैं एवं कर्म-

फलदाता रूप से वही अधियज्ञ—भी हैं। अतः अर्जुन के ६ प्रश्नों का उत्तर एक परमब्रह्मस्वरूप वासुदेव में ही पर्यवसित (समाप्त) होता है।

[अब प्रयाणकाल में (प्राणत्याग के समय) तुम्हें किस प्रकार जाना जा सकता है ? इस सप्तम प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं—]

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥

अन्वयः—अन्तकाले च माम् एव स्मरन् कलेवरं मुक्त्वा यः प्रयाति स मद्भावं याति अत्र संशयः न अस्ति ।

अनुवाद—जो अन्तकाल में अर्थात् मृत्यु के समय मुझे ही स्मरण करते हुए देह त्याग करते हैं (देह में अभिमान त्याग करते हैं) वे मेरे ही भाव को (वैष्णव भाव को अर्थात् अविनाशी ब्रह्मस्वरूप को) प्राप्त होते हैं, इस विषय में कोई संशय नहीं है।

भाष्यदीपिका। अन्तकाले च माम् एव स्मरन्—अन्तकाल में (मरणकाल में भी) मुझे ही अर्थात् परमेश्वर विष्णु को ही सर्वदा चिन्ता करता हुआ। मृत्युकाल में इन्द्रियादि अत्यधिक व्याकुल होते हैं अतः तुमको उस समय स्मरण करना किस प्रकार सम्भव है ? ऐसा संशय हो सकता है किन्तु उस अवस्था में भी भगवान का स्मरण रखना असम्भव नहीं है क्योंकि जीवितावस्था में सर्वदा श्रद्धापूर्वक भगवान में चित्त समर्पित रखकर निरन्तर उनको स्मरण करने का अभ्यास रहने पर मृत्युकाल में भी वह चिन्ताजनित संस्कार परिपक्व होने के (जम जाने के) कारण बलवान् रहता है एवं देहेन्द्रियादि की चिन्ता न रहकर भगवान का चिन्तन स्वतः ही चलता रहता है, यही यहाँ 'च' शब्द का तात्पर्य है।

['मामेव स्मरन्' पद का 'एव' शब्द अवधारणार्थ (निश्चयार्थ में) में प्रयोग हुआ है। अभिप्राय यह है कि आध्यात्मिकादिगुण विशिष्ट ब्रह्म को स्मरण न रखकर केवल मुझको ही अर्थात् अधियज्ञ (अन्तर्यामी) के रूप में वर्तमान सगुण ब्रह्म परमेश्वर विष्णु को (वासुदेव को) अथवा निर्गुण अक्षर परब्रह्म को ही स्मरण करना चाहिए—अन्य किसी को नहीं। आध्यात्मिकादि विशिष्ट ब्रह्म की चिन्ता में चित्तविक्षेप की सम्भावना रहती है। इसलिए परमगति प्राप्त करने के लिए परमात्मा का (या तो सगुण और नहीं तो निर्गुण रूप से) ध्यान का अभ्यास अत्यन्त दृढ़ तथा परिपक्व होना चाहिए। यह ही 'एव' शब्द का तात्पर्य है। कलेवरं मुक्त्वा—शरीर को त्याग कर अर्थात् शरीर में

जो 'अहंता ममता' (मैं और मेरा भाव) का अभिमान रहता है मृत्युकाल में इसका परित्याग कर यः—जो प्रयाति—प्र (प्रकृष्टरूप से) याति (गमन करता है) अर्थात् शरीर में अभिमान का पूर्णरूप से त्याग कर चला जाता है। सः मद्भावं याति—वह अर्थात् वह उपासक मेरे भाव को अर्थात् वैष्णव तत्त्व को (मेरे सर्वव्यापी निर्गुण ब्रह्मभाव को) प्राप्त होता है। वह यदि सगुण ब्रह्म की चिन्ता करते करते शरीर त्याग करे तब पितृयान मार्ग की अपेक्षा उत्कृष्ट क्रम मुक्ति के मार्ग से (अग्नि, ज्योतिः, अहः शुक्लपक्ष इत्यादि मार्ग जो २४ वें श्लोक में कहा जायगा उस मार्ग से) हिरण्यगर्भ या ब्रह्मलोक में गमन करेगा। [इस उत्कृष्ट मार्ग में गमन होने के कारण ही श्लोक में 'प्रयाति' शब्द का प्रयोग किया गया है।] उसके बाद वह उपासक हिरण्यगर्भलोक में रहकर उस लोक का भोग अन्त होने पर वैष्णव तत्त्व (निर्गुण ब्रह्मतत्त्व) का साक्षात्कार कर ब्रह्मस्वरूपता प्राप्त कर मुक्त होता है। और वह यदि निर्गुण ब्रह्म की चिन्ता करते हुए देह त्याग करे तो 'वे कलेवर त्याग कर प्रयाण करते हैं' ऐसा केवल लोकदृष्टि के अनुसार ही कहा गया है, ऐसा समझना चाहिए अर्थात् लोकदृष्टि से वे देह त्याग कर ऊर्ध्वगति प्राप्त हुए ऐसा मालूम होता है किन्तु वास्तविक वैसी बात नहीं है क्योंकि श्रुति में कहा गया है—'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते' अर्थात् उस ब्रह्मवित् व्यक्ति का प्राण और उत्क्रमण नहीं करता है (लोकान्तर में नहीं जाता है) किन्तु यहाँ रहकर ही वह (ब्रह्म में) लीन हो जाता है। श्रुति में और भी कहा गया है 'यो ह वै परं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति (मु० उ०)' अर्थात् जो ब्रह्म को जानते हैं वे ब्रह्म ही हो जाते हैं। अतः ब्रह्मवित् योगी साक्षात् मद्भाव अर्थात ब्रह्मभाव या विदेहकैवल्य प्राप्त होते हैं। श्रुति में इसलिए और भी स्पष्टरूप से कहा गया है 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृ० उ० ४।४।६) अर्थात् वे ब्रह्म होकर ही ब्रह्मस्वरूपता प्राप्त होते हैं (मृत्यु के बाद ब्रह्म में लीन हो जाते हैं)।

अत्र—इस विषय में अर्थात् आत्मा जो देहादि से व्यतिरिक्त (विलक्षण) है एवं मेरे अनन्य भक्त जो मरणकाल में मुझे ही स्मरण कर देह त्याग करता है वह मद्भाव (मेरे स्वरूप को) प्राप्त होता है, इस विषय में संशयः नास्ति—संशय नहीं है। [आत्मा देहादि से व्यतिरिक्त (पृथक्) है कि नहीं एवं यदि देहादि से पृथक् हो तो वह ईश्वर से भिन्न है या अभिन्न इत्यादि रूप संशय और नहीं रहता है क्योंकि श्रुति में कहा गया है कि ब्रह्मसाक्षात्कार के बाद सभी प्रकार के संशय छिन्न हो जाते हैं 'छिद्यन्ते सर्वसंशयाः'

(मु० उ० २।२।८)। यहाँ 'मुक्त्वा कलेवरं प्रयाति'' (देह त्याग कर प्रयाण करता है अर्थात् चला जाता है ऐसा कहने से आत्मा जो देहादि से भिन्न है वह प्रतिपन्न हुआ है एवं 'मद्भावं याति' (मेरे वैष्णवतत्त्व या ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है) ऐसा कहने में जीव जो ब्रह्म से अभिन्न है वह भी स्पष्टरूप से बताया गया है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—'प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि' (मृत्यु के समय तुम कैसे जाने जा सकते हो ?) इस प्रकार अर्जुन ने प्रश्न किया। उसका उत्तर रूप से श्रीभगवान मृत्युकाल में अपने स्वरूप के ज्ञान का उपाय एवं उसके फल को दिखाते हैं–(मृत्युकाल में) पूर्वोक्तलक्षणविशिष्ट मुझ अन्तर्यामी-रूप परमेश्वर को स्मरण करते करते जो शरीर को त्याग कर प्रकृष्ट रूप से (भलीभाँति) अर्चिः आदि मार्ग से गमन करता है वह [ब्रह्मलोक में तत्त्वज्ञान लाभ कर] मेरे भावको (मेरे स्वरूप को अर्थात् ब्रह्मरूपता को) प्राप्त होता है, इसमें संशय नहीं है। कहने का अभिप्राय यह है कि स्मरण (निरन्तर स्मरण) ज्ञानलाभ करने का उपाय है और मेरे (परब्रह्म के) भाव की प्राप्ति उसका फल है।

(२) शंकरानन्द—'साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः। प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुः' ('जो व्यक्ति साधिभूत, साधिदैव एवं साधियज्ञ स्वरूप मुझे जानते हैं, वे प्रयाणकाल में (मृत्यु के समय) भी मुझे जानते हैं') इस श्लोक से साधिभूत, साधिदैव एवं साधियज्ञ रूप ब्रह्म के उपासकों के अन्तकाल में भी ब्रह्म के स्मरण द्वारा उनके सम्बंध में जो ज्ञान रहता है उस ज्ञान का पूर्ववर्ती श्लोक में उपक्रम कर उसका फल सह विस्तार पूर्वक अब प्रतिपादन कर रहे हैं यः—'यः' शब्द एक वचन है किन्तु वह बहुवचन का उपलक्षण है। जो अध्यात्म, अधिभूत आदि भेद प्रत्यय से रहित होकर उक्त लक्षणयुक्त परब्रह्म माम् एव—मुझको ही जरामरण से मुक्त करने के लिए अविच्छिन्न योगनिष्ठा से सर्वदा अनुसन्धान करते हैं सः—वे ब्रह्मविद् अन्तकाले च—अन्तकाल में भी उसी एकवृत्ति के द्वारा ब्रह्माकारा-वृत्ति के द्वारा मेरा ही स्मरण—स्मरण करते करते 'ब्रह्म ही मैं हूँ' इस प्रकार अपनी ब्रह्मस्वरूपता की ही भावना करते करते [अध्यात्म आदि का स्मरण न करता हुआ क्योंकि उनके स्मरण से तो संसार का हेतु (कारण) 'मैं और मेरा आदि व्यामोह का पुनरपि प्रसंग हो जायगा, अतः सर्वात्मरूप से मुझ परब्रह्म का ही ध्यान करते करते] कलेवरं मुक्त्वा मद्भावं याति—कलेवर (शरीर) को त्याग कर मेरे भाव को अर्थात् ब्रह्मभाव को प्राप्त होते हैं न-

अस्ति अत्र संशयः—इसमें कोई संशय नहीं है। प्रश्न-मृत्यु के समय में परब्रह्म का ध्यान करते हुए शरीर को छोड़ने वाले ब्रह्मविद की ब्रह्मभाव प्राप्ति तो परोक्ष है, अतः ब्रह्मभाव प्राप्ति होतो है कि नहीं, इस विषय पर संशय है। उत्तर-इस विषय में तुम्हारा अथवा दूसरे किसी वेद जानने वाले पुरुष का कोई संशय नहीं रहना चाहिए क्योंकि श्रुति में कहा गया है 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' अतः ब्रह्मानुसन्धानकारी यति यदि अन्तकाल में भी अपने को ब्रह्म जाने तो ब्रह्म ही हो जाते हैं क्योंकि 'पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैर्यच्चित्तस्तेनैष प्राण आयाति प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथासंकल्पितं नयति' (इन्द्रियाँ मन में लीन होने के पश्चात् उन इन्द्रियों के साथ वह दूसरे शरीर को प्राप्त होता है। मृत्यु के समय में पुरुष जैसा चित्त के साथ युक्त होता है, उस चित्त से ही यह प्राण में आ जाता है; तेज से तथा आत्मा से युक्त प्राण उसको यथासंकल्पित लाक में ले जाता है') ऐसो श्रुति है ब्रह्मविद् को अन्तकाल में भी ब्रह्म स्वरूप में हा स्थित रहना चाहिए, दृश्यस्वरूप से नहीं। दृश्य स्वरूप से स्थित पुरुष को भावी शरीर को स्मृति रहती है एवं उस स्मृति के अनुसार उनको शरीर की प्राप्ति होती है।

शंका—ब्रह्मविद् का ता कर्म हो नहीं है, तब भावी शरीर की स्मृति तथा शरीर की प्राप्ति कैसे होगी ?

समाधान—नहीं, यह शंका युक्त नहीं है क्योंकि कर्म की गति विचित्र है इसलिए उसे (कर्म की गति को) जाना नहीं जा सकता है।

शंका—तब तो ऐसी कर्मगति के द्वारा ब्रह्मानुसन्धान भी रुद्ध हो जायगा।

समाधान—नहीं, यह भी युक्त नहीं है क्योंकि पहले से ही दीर्घकाल तक स्थिरतापूर्वक नित्य निरन्तर अभ्यास किया हुआ योगबल के द्वारा प्राण वेदना के ज्ञान के समान कर्म एवं उसका ज्ञान भी रुद्ध हो जा सकता है। अतः उस प्रकार योगबल के द्वारा ब्रह्म से विपरीत भाव निरुद्ध हो जाने से ब्रह्म का ही ध्यान करते हैं अर्थात् ब्रह्म को ही प्राप्त होते हैं। इसलिए 'अन्तकाले च मामेव' इसमे 'च' कार एवं 'एव' कार दोनों के द्वारा ब्रह्मविद् को दूसरी भावनाओं से रहित होकर अन्तकाल में भी ब्रह्मस्वरूप में स्थित रहना चाहिए, इस प्रकार श्रीभगवान नियमन कर रहे हैं एवं इस अर्थ को आगे भी स्पष्ट करेंगे।

शंका—तब 'तीर्थे श्वपचगृहे वा' (तीर्थ या श्वपच के गृह में) इत्यादि वचनों की क्या गति होगी ?

समाधान—ऐसा कहना युक्त नहीं है क्योंकि पुण्य, अपुण्य क्षेत्र तथा तीर्थ में निवास का विचार ब्रह्मविद् को नहीं करना चाहिए क्योंकि ब्रह्मज्ञान के द्वारा ही मुक्ति होती है कोई क्षेत्र में निवास करने से नहीं, यह समझ जाने से उक्त वाक्यों की क्या गति है? वह स्पष्ट होगी। पुण्य क्षेत्र में भी ध्याननिष्ठा से रहित होने पर विस्मृति प्राप्त होकर अन्तकाल में मृग का ध्यान कर जड़ भरत मृगत्व को प्राप्त हुए थे, इसलिए पहले एवं अन्तकाल में ब्रह्मविद् यति को ब्रह्मनिष्ठा से स्थित रहना चाहिए, यह सिद्ध हुआ।

(३) नारायणी टीका—अन्तकाल में (मृत्यु के समय) भी यदि मुझ परब्रह्म को ही सगुण रूप से या निर्गुण रूप से स्मरण करते हुए देह का त्याग कर (देह में 'मैं और मेरा रूप' अभिमान त्याग कर प्रकृष्ट भाव से इह लोक से मेरा कोई भक्त चला जाय तो वह मेरा भाव अर्थात् ब्रह्मस्वरूपता प्राप्त होता है। प्रश्न होगा—मृत्यु के समय प्रत्येक प्राणी का ही चित्त व इन्द्रियाँ अत्यन्त व्याकुल रहती हैं, अतः उस समय में तुम्हारा (परब्रह्मस्वरूप वासुदेव का) स्मरण किस प्रकार से सम्भव होगा? उत्तर—नहीं जिसने जीवितावस्था में दीर्घकाल तक श्रद्धापूर्वक निरन्तर मुझको (परमात्मा को) स्मरण करने का अभ्यास नहीं किया एवं उस अभ्यास की परिपक्वता के कारण जिसका चित्त मुझमें समाहित नहीं हुआ है उसके लिये मृत्युकाल में अकस्मात् मुझको स्मरण करना असम्भव होने पर भी परिपक्व अभ्यासी के लिये वह अनायास होता है यही 'अन्तकाले च' पदको च शब्द से सूचित कर रहे हैं।

प्रश्न—'मामेव स्मरण (मुझको ही स्मरण कर) यहाँ 'एवं शब्द का तात्पर्य क्या है? फिर स्मरन् क्यों कहा 'जानन्' 'पश्यन्' (जानकर या देखकर (साक्षात्कार कर) ऐसा क्यों नहीं कहा?

उत्तर—यहाँ 'माम्' शब्द का अर्थ है मुझ अखण्डाद्वय अविनाशी अविकारी सर्वभूतात्मा परब्रह्मको। उनके विना जितनी वस्तु दृश्य रूप से प्रतीत होती हैं वे सब ही मायिक, अतः परमार्थतः मिथ्या हैं। परब्रह्म के सगुण या निर्गुण स्वरूप के निरन्तर स्मरण का अभ्यास करने से ब्रह्मकारा-वृत्ति परिपक्व होती है—उसी ब्रह्मकारावृत्ति ही चित्त से परब्रह्म में समाहित (लीन कर) जीव और ब्रह्म की एकता सम्पादन करके संसार सागर से मुक्ति का हेतु होती है अर्थात् फिर कलेवर (देह) धारण नहीं करना पड़ता [इसलिये ही भगवान ने कहा—'मुक्त्वा कलेवरम्]। 'परब्रह्म के विना कोई दूसरी वस्तु का (जो मायिक व मिथ्या है उसका) स्मरण (चिन्तन)

करने से उससे मायिक वस्तु का ही संस्कार परिपक्व होगा, अतः माया से पार पाने का कोई उपाय नहीं रहेगा। यही 'एव शब्द का तात्पर्य है। द्वितीयतः परब्रह्म स्वरूप का (सर्वात्मा भगवान् वासुदेव का) निरन्तर स्मरण ही उनकी प्राप्ति का एकमात्र उपाय है। यदि सैकड़ों याग, तप, दान, व्रत इत्यादि कर्म किये जाये परन्तु मनमें स्मरण (भावना या चिन्तन) न रहे तो उन सब कर्मों से केवल पुण्य का ही संचय हो सकता है किन्तु परब्रह्म की प्राप्ति की कोई सम्भावना नहीं है। इसलिये भगवान आगे कहेंगे—'तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर [इसलिये तुम हमेशा मेरा स्मरण करो]। निरन्तर स्मरण का फल है जानना (अर्थात् तत्त्वज्ञान) और देखना अर्थात् साक्षात्कार इस लिये ही स्मरण का प्राधान्य यहाँ दिया गया।

प्रश्न—'मुक्त्वा कलेवरं यः प्रयाति' का क्या तात्पर्य है ? अन्तकाले अर्थात् मृत्यु के समय सभी को कलेवर को (देह को) छोड़कर जाना पड़ता है। अतः फिर 'मुक्त्वा कलेवरम् ' क्यों कहा ? और 'याति न कहकर 'प्रयाति' शब्द का क्यों प्रयोग किया ?

उत्तर—परब्रह्म का स्मरण या चिन्तन का अभ्यास करते हुए भी यदि देहात्मबुद्धि दृढ़ रहे (देह में मैं, मेरा' भावना रहे) तो मृत्यु के समय देह तथा इन्द्रियादि की व्याकुलता के कारण परब्रह्म का स्मरण असम्भव होता है। अतः इस प्रकार देहात्माभिमानी पुरुष की प्रकृष्ट गति (प्रयाति) अर्थात ब्रह्मलोक में गमन कर वहाँ तत्त्वज्ञान प्राप्त करके ब्रह्मभाव की (ब्रह्मस्वरूपता या परमानन्द की) प्राप्ति कभी सम्भव नहीं होती। वे सब साधक योगभ्रष्ट होकर पुनः देह धारण करते हैं अर्थात् संसार में जन्म लेते हैं (गीता ६।४१-४४) इसलिये भगवान् ने कहा 'मुक्त्वा कलेवरम्' नहीं) अर्थात् केवल देहको छोड़कर ही नहीं परन्तु देह से मुक्त होने पर अर्थात् देह में अज्ञान से जो मैं और मेरा अभिमान था उसका भी त्याग करने पर एवं साथ साथ परब्रह्म का स्मरण करने पर प्रकृष्ट मार्ग से (अर्चिरादि मार्ग से) ब्रह्मलोक में गमन कर क्रममुक्ति प्राप्त होतो है। अतः पुनः उन योगी को देहधारण या संसार में प्रत्यावर्तन नहीं करना पड़ता यही वेदादि शास्त्रों का निश्चित सिद्धान्त है। अतः भगवान् भी कह रहे कि इस विषय पर संशय करना नहीं चाहिए। ब्रह्म के उपासकों की ही इस प्रकार गति होती है। किन्तु जिस उपासक ने निरन्तर ब्रह्मस्वरूप का स्मरण (चिन्तन) से ब्रह्म को जान लिया (साक्षात्कार कर लिया) उनका कोई प्रयाण अन्यत्र गमन नहीं होता। वे जीवितावस्था में ही ब्रह्मभाव प्राप्त होकर जीवन्मुक्त अवस्था प्राप्त होता है

वे तो ब्रह्म ही हो जाते हैं 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव' भवति क्योंकि उनका देह में अभिमान तो पहले ही नष्ट हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्मनिष्ठ पुरुष की दृष्टि में मृत्युकाल भी नहीं है। प्रारब्ध समाप्त होने पर देह का पात स्वतः ही हो जाता है किन्तु ज्ञानी को मृत्यु का कोई अनुभव भी नहीं रहता और स्वसुखानुभव (आत्मानन्द अनुभव) विना और कोई अनुभव नहीं रहता। अतः (क) अन्तकाले ब्रह्म को स्मरण करना (ख) देह में आत्मबुद्धि (अभिमान) का त्याग करना (ग) प्रयाति अर्थात् प्रकृष्ट गति (मार्ग) प्राप्त होना (घ) एवं अन्त में ब्रह्म भाव प्राप्त होना ये सब ही क्रममुक्ति प्राप्त होने वाले ब्रह्म के उपासक के लिये है—ब्रह्मनिष्ठ जीवन्मुक्त पुरुष के लिये नहीं।

[निरन्तर भगवान् की चिन्ता के फलरूप से जो व्यक्ति अन्तकाल में भी भगवान् की चिन्ता करके देहत्याग करता है उसकी भगवत्प्राप्ति अवश्य ही होगी यह पूर्वश्लोक में कहा गया है। भगवान् अब कह रहे हैं कि केवल भगवत्प्राप्ति के सम्बन्ध में ही यह नियम प्रयुक्त होता है ऐसी बात नहीं, मृत्युकाल में जिस-जिस भाव की चिन्ता करता हुआ देहत्याग करता है जीव उस स्मरण किये हुए भाव को ही प्राप्त होता है, यही सर्वत्र नियम है।]

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥

अन्वयः—हे कौन्तेय! अन्ते यं यं वा अपि भावं स्मरन् कलेवरं त्यजति, सदा तद्भावभावितः (सन्) तम् तम् एव एति।

अनुवाद—हे कुन्तीनन्दन! मृत्यु के समय में जिस-जिस भावविशेष को स्मरण करता हुआ (अर्थात् जिसका चिन्तन करता हुआ) जीव देहत्याग करता है (शरीर छोड़ता है), सर्वदा उस भाव विशेष के (देवता प्रभृति के) स्मरण में अभ्यस्त रहने के कारण वह (मृत्यु के उपरान्त) उस स्मरण किये हुए भाव को ही (अर्थात् देवता विशेष या अन्य भाव को ही) प्राप्त होता है।

भाष्यदीपिका—हे कौन्तेय! हे कुन्तीनन्दन! तुम पितृस्वसा का पुत्र हो, अतः तुम्हारे ऊपर मेरा स्नेह अधिक है। उस कारण ही तुम अवश्य ही मेरे अनुग्रह के भाजन (पात्र) हो। अतः मैं तुम्हें अब जो कुछ कह रहा हूँ उसे तुम संशयशून्य होकर ग्रहण कर सकते हो।

अन्ते यं यं वा अपि भावं स्मरन्—केवल मेरा स्मरण करने से ही जो केवल मत्स्वरूपता प्राप्त होओगे ऐसा नियम नहीं है किन्तु अन्त में

अर्थात् प्राणवियोग के समय में (मृत्यु के समय) (यह जीव) जिस-जिस भी भाव का अर्थात् देवताविशेष का अथवा अन्य कोई भाव का ['अपि वा' शब्द के द्वारा यही समझाया जा रहा है] चिन्तन करता हुआ कलेवरं त्यजति—देहत्याग करता है।

सदा तद्भावभावितः (सन्) सर्वदा तद्भावभावित होकर। उस देवतादि के सम्बन्ध में जो भाव (भावना या वासना) है वही तद्‌भाव है। वह तद्‌भाव को जिसने भावित किया है अर्थात् सदा (बारंबार) चिन्तन के द्वारा अभ्यस्त किया है अथवा उसके चिन्तन के द्वारा जिसका चित्त सदा ही वासित (भरपुर) हो गया है अतः दूसरा कोई भी विषय उसका चिन्तनीय नहीं है, उसको 'तद्‌भावभावित' कहा जाता है। ऐसा होकर तं तम् एव एति—(देहत्याग करने के बाद) वह स्मर्यमान भाव अर्थात् जिस वस्तु का पुनः पुनः स्मरण करने से अभ्यस्त हो गया है उस भाव की (देवताविशेष या अन्यभाव की) स्वरूपता ही प्राप्त होती है, अन्य को नहीं। कहने का अभिप्राय यह है कि स्मर्यमान वस्तु के अतिरिक्त और कुछ भी प्राप्त नहीं होता है। मृत्यु के समय में अन्तःकरण की व्याकुलतावश परमेश्वर को स्मरण करने का उद्यम न रहने पर भी पूर्वाभ्यासजनित वासना ही इष्टवस्तु का स्मरण करा देती है (पूर्ववासनाया अभ्यासवशतः इष्टवस्तु स्वभावतः ही स्मृतिपथ में आरूढ़ होती है)। अतः उसके स्मरण के लिए मुमूर्षु व्यक्ति को कोई चेष्टा नहीं करनी पड़ती। मृत्युकाल में जिस वस्तु का स्मरण कर देहत्याग किया जाता है उस वस्तु की ही स्वरूपता प्राप्त होती है, यही शाश्वत नियम है—वह स्मर्यमाण (स्मरण किये हुए) वस्तु परमात्मा हो तो परमात्मा को प्राप्त होता है। देवताविशेष होने से देवताविशेष को प्राप्त होता है अथवा अन्य कोई वस्तु होने से उसी की ही स्वरूपता प्राप्त होती है। उस नियम को अन्यथा होने का उपाय नहीं है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—(मृत्युकाल में) मेरा ही स्मरण करनेवाला मुझको प्राप्त होता है, ऐसा नियम नहीं है, तो फिर वह नियम कैसा है ? यं यं भावं स्मरन् वा अपि—जिस-जिस भाव का (चाहे दूसरा देवता का नहीं तो अन्य किसी का भी) अन्तकाल में स्मरण करते हुए देह को छोड़ देता है, वह उस-उस स्मरण किये हुए भाव को ही प्राप्त होता है। अन्तकाल में भावविशेष का क्यों स्मरण होता है वह बताते हैं—सदा जिस विषयसम्बन्ध में भाव (भावना अर्थात् बारबार चिन्तन) रहता है उस भावसे चित्त भावित (भाव की वासना से चित्त वासित अर्थात् रंजित) होता है। जिसका चित्त

इस प्रकार होता है उसको 'सदा तद्भावभावित' कहा जाता है। [इसप्रकार बारंबार चिन्तन के द्वारा अभ्यस्त हुए पुरुष को अन्तकाल में उस भाव-विशेष की स्मृति होती है।]

(२) शंकरानन्द—शंका 'पुण्य के द्वारा पुण्यलोक' इस न्याय के द्वारा देवयज्ञ, विष्णुयज्ञ एवं शिवयज्ञ करनेवाला पुरुष आराधन मात्र से ही जिस प्रकार तत्-तत् स्वरूपभाव को प्राप्त होता है, उस प्रकार ही ब्रह्मविद् को भी निरन्तर श्रवण आदि के द्वारा ब्रह्मभाव की प्राति हो जाती है। तब क्यों जिसमें प्राणवेदना का आधिक्य होता है इसप्रकार मृत्यु के समय 'अन्तकालमें भी मुझको!' इसप्रकार नियमपूर्वक ब्रह्मविद् को तुम्हारा ध्यान अवश्य हीं करना चाहिए, ऐसा आग्रह प्रकाश किया ? समाधान—नहीं, यह शंका युक्त नहीं है, क्योंकि विष्णु आदि के भक्तो को भी नित्य एवं अन्तकाल में उनका ध्यान करने से ही उनके स्वरूप की प्राप्ति होती है—एवं दूसरे नियम से भजन करनेवालों को तो उनके लोक की प्राप्ति ही होती है (उनका स्वरूप नहीं) यह नियम सर्वसाधारण है, केवल ब्रह्मविद् के लिए नहीं, यही अब कह रहे हैं। भक्त अथवा अन्य पुरुष तद्भावभावित (शिव आदि का अथवा अभीष्ट वस्तु का अथवा शत्रु का अथवा दूसरे का भाव) स्वरूप जिसके द्वारा भावित अर्थात् भक्ति, प्रीति, मोह, द्वेष या भय के द्वारा सर्वदा भावना की (अर्थात् बुद्धिवृत्ति की) विषयता प्राप्त होती है वह 'तद्भावभावित' है। इसप्रकार 'तद्भावभावित' होकर अर्थात् सर्वदा उस स्वरूप की ही भावना कर अन्ते—अन्तकाल में यं यं वा अपि भावं—जिस-जिस भाव का (शिव का, विष्णु का अथवा दूसरे प्रिय-अप्रिय पदार्थ का) पूर्वसंस्कार के बल से स्मरण—स्मरण अथवा चिन्तन करते करते कलेवरं त्यजति तं तमेव—कलेवर (शरीर) त्याग करता है, वेद उस भाव को अर्थात् अपने चिन्तित हुए पदार्थ के स्वरूप को ही एति—प्राप्त होता है अर्थात् पूर्व या पश्चात्कालीन ध्यान की शक्ति की महिमा के द्वारा ध्येय के स्वरूप को ही प्राप्त होता है, केवल आराधनरूप पुण्यकर्म के द्वारा नहीं। जिस प्रकार इन्द्र का यजन कर ब्राह्मण इन्द्रपद को प्राप्त नहीं कर सकता है, उस प्रकार श्रवणमात्र से परोक्ष ब्रह्मविद् ब्रह्म को अपरोक्षरूपसे प्राप्त नहीं होता है। श्रुति भी कहती है—'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन' ('इस आत्मा को प्रवचन के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता है और न तो मेधा के द्वारा और न तो बहु श्रवण के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है') किन्तु सदा—सर्वदा तद्भाव-भावितः—उस भाव के द्वारा भावित होकर ही प्राप्त होता है। उस ब्रह्म का

भाव तद्भाव है अर्थात् तद्भाव शब्द का अर्थ है ब्रह्मस्वरूप; 'मैं सदा यही हूँ' इस प्रकार भावित है (अर्थात् आत्मरूप से अनुभव का विषय किया गया है) जिसके द्वारा वह 'तद्भावभावित' है—अथवा तद्भाव (ब्रह्मभाव)—वह भावित (नित्य निरन्तर समाधिनिष्ठा से उत्पन्न सम्यक् ज्ञान के द्वारा प्राप्त हुआ है जिसके द्वारा वह) 'तद्भावभावित' है। इसप्रकार तद्भावभावित होकर ब्रह्म भाव (ब्रह्मस्वरूपता) को प्राप्त होते हैं। श्रुति भी कहती है 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' ('जिसको यह वरण करता है उसी को) वह लभ्य है अर्थात् प्राप्त होता है। नित्य-निरन्तर ध्यान के द्वारा ध्याता को ध्येयस्वरूपता को प्राप्त होना भ्रमर (भँवर) कीटादि में देखा भी गया है। जिस कारण से ऐसा होता है उस कारण से ही विदेहमुक्ति के लिये कामना करनेवाला ब्रह्मविद् यतियों को भी नित्य (निरन्तर) एवं अन्तकाल में भी ब्रह्मानुसन्धान (ब्रह्म का निरन्तर चिन्तन) ही करना चाहिए, कभी भी ब्रह्म का—आत्मा से अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु का अनुसन्धान नहीं करना चाहिए, यह सिद्ध हुआ।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्वश्लोक में कहा गया कि मृत्यु के समय भगवान् का चिन्तन कर देह छोड़ने पर मनुष्य भगवत्स्वरूपता (ब्रह्मस्वरूपता) प्राप्त होता है। यह केवल भगवत्प्राप्ति के सम्बन्ध में ही नियम नहीं है—सर्वत्र ही यह नियम प्रयोज्य है। यदि कोई ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य देवता को स्मरण कर देहत्याग करे तो वह स्मरण किया हुआ उस देवता के स्वरूप को प्राप्त होगा अथवा यदि अन्य कोई पार्थिव पदार्थ को (व्यक्ति या वस्तु को) स्मरण कर देह छोड़ दे तो उस व्यक्ति या वस्तु को प्राप्त करेगा (उसकी स्वरूपता प्राप्त होगी) मृत्युकाल में इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि इत्यादि सभी विकल हो जाते हैं। अतः उस समय मनुष्य के प्रयत्न से कोई वस्तु का चिन्तन होना असम्भव है। यदि जीवितावस्था में कोई ध्येय अथवा इष्ट वस्तु का [परब्रह्म का अथवा देवता विशेष का अथवा अन्य वस्तु का] सदा (निरन्तर—वारंवार) भाव (भावना) रहे एवं उस प्रकार अभ्यास से परिपक्व हुई भावना से चित्त भावित (वासित अर्थात् आच्छादित) हो अर्थात् चित्त चिन्तित हुई वस्तु में अभ्यासवश निविष्ट रहे तो मृत्युकाल में उस वस्तु का स्मरण स्वभावतः ही (विना किसी प्रयत्न से) होता है एवं चित्त उस वस्तु विशेष में पहले से ही तन्मय रहने कारण वह मनुष्य तदाकारता को (चिन्तित वस्तु की स्वरूपता) प्राप्त होता है, यही कहने का अभिप्राय है। इस विषय पर अनेक दृष्टान्त पुराणादि शास्त्रों में वर्णित है, यथा भरत राजा पुण्यात्मा, तपस्वी एवं बहु सद्गुणों से सम्पन्न होते हुए भी उन्होंने हरिणशिशु के प्रति दयापरवश होकर

उसका ही निरन्तर चिन्तन करते-करते जब तद्भावभावित होने के कारण (अर्थात् उसके चिन्तन में ही चित्त अभिनिविष्ट होने के कारण) मृत्युकाल में हरिणशिशु का ही स्मरण करके देह छोड़ दिया था। उसके परिणामस्वरूप जन्मान्तर में भरत राजा को हरिण देह धारण करना पड़ा। पुनः नन्दिकेश्वर सर्वदा शिवजी की भावना करते-करते उस देह में ही शिवरूपता प्राप्त हुए थे।

[पूर्वाभ्यासवश मृत्युकाल में जिस प्रकार की भावना की उत्पत्ति होती है वही जब जन्मान्तर में अन्य शरीर की प्राप्ति का कारण होता है तब प्रत्येक कल्याणकामी व्यक्ति का क्या कर्तव्य है, वही अब कहा जा रहा है—]

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्धय च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः ॥ ७ ॥

अन्वयः—तस्मात् सर्वेषु कालेषु माम् अनुस्मर युद्धय च, मयि अर्पितमनोबुद्धिः (सन्) असंशयः माम् एव (त्वं) एष्यसि।

अनुवाद—इस कारण सर्वदा मुझे ही स्मरण करो एवं युद्ध भी करो। मुझे मन तथा बुद्धि को अर्पण करो, तुम मुझको ही प्राप्त होओगे, इसमें कोई संशय नहीं है।

भाष्यदीपिका—तस्मात्—चूँकि अन्तकाल की भावना ही अन्य शरीर की प्राप्ति का कारण होता है। इसलिए अर्थात् जिससे अन्य किसी वस्तु की भावना उत्पन्न न होकर केवल मद्विषयक अर्थात् परमात्मविषयक भावना स्वभावतः ही मृत्युकाल में उत्पन्न हो सकती है इसलिए पहले से ही सर्वेषु कालेषु—सभी समय ही अर्थात् सदा ही (आदर तथा श्रद्धा के साथ) एवं शास्त्रानुमोदित भाव से माम् अनुस्मर—मेरी अर्थात् परमात्मस्वरूप मुझे [सगुणेश्वर मुझे (मधुसूदन)] स्मरण करो। युध्य च—एवं शास्त्राज्ञानुसार युद्ध भी करो अर्थात् स्वधर्म का भी पालन करो। आनन्दगिरि का कहना है कि श्लोक में निरन्तर भगवान के अनुस्मरण के साथ-साथ युद्धादि स्वधर्म-पालन करने के लिए कहने में ऐसा मालूम हो सकता है कि श्रीभगवान् ने ज्ञान तथा कर्म के समुच्चय का उपदेश दिया है अर्थात् ज्ञान के साथ स्वधर्म पालनरूप कर्मयोग का भी अनुष्ठान करना चाहिए ऐसा उपदेश दे रहा है किन्तु वह बात ठीक नहीं है क्योंकि यहाँ कर्ता, कर्म तथा करण (क्रिया) एवं कर्मफल सभी को ही ब्रह्म या परमात्मस्वरूप मानकर प्रारब्धवश शरीर को जो जो कर्तव्य कर्म प्राप्त होते हैं उन्हें करने का उपदेश दिया गया है। क्रियादि

समूह में ब्रह्म भिन्न अन्य किसी द्वितीय वस्तु की भावना नहीं रहने से ही निरन्तर (सर्वकालेषु) ब्रह्मस्वरूप भगवान् का चिन्तन रहना सम्भव है— अन्यथा नहीं अतः उस कर्ता के निकट ब्रह्म से अतिरिक्त और किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं रहने के कारण एवं मनबुद्धि सर्वदा ही एकमात्र ब्रह्म में ही समर्पित रहने के कारण ज्ञान तथा कर्म के समुच्चय का उपदेश देने का अभिप्राय यहाँ हो ही नहीं सकता। मधुसूदन सरस्वती के मत में 'युध्य च' शब्द का तात्पर्य यह है कि यदि अन्तःकरण की अशुद्धता रहने से मुझे सर्वदा स्मरण न कर सको तब तुम युद्ध करो अर्थात् चित्तशुद्धि के लिए युद्ध प्रभृति स्वधर्म का अनुष्ठान करो। इसप्रकार नित्य नैमित्तिक कर्म का अनुष्ठान (स्वधर्म पालन) निष्कामरूप से करने पर तुम्हारी चित्तशुद्धि होगी एवं अतः पर तुम मुझमें (वासुदेव में) सम्पूर्ण रूप से मन तथा बुद्धि को अर्पण कर मुझको ही प्राप्त होओगे। चित्तशुद्धि के लिए शास्त्रविहित युद्धादि सभी कर्मों को सदा ही भगवदर्पण बुद्धि से करने पर भगवान् की स्मृति सतत रह सकती है, यही 'च' शब्द का तात्पर्य है। दोनों व्याख्यायें ही समीचीन हैं। आनन्दगिरि के मत में यहाँ 'माम्' शब्द का अर्थ है अखंड अद्वय शुद्धचैतन्य-स्वरूप ब्रह्म और मधुसूदन सरस्वती के मत में 'माम्' शब्द का अर्थ है सगुण ब्रह्म ['युध्' धातु आत्मनेपदी है अतः 'युध्यस्व' इस पद के स्थान में 'युध्य' पद का आर्ष प्रयोग हुआ है।] मयि-अर्पित-मनोबुद्धिः (सन्)—मुझमें अर्थात् परमात्मरूपी वासुदेव में जिनका संकल्पात्मक मन एवं निश्चयात्मिका बुद्धि अर्पित हुए हैं उन्हें मय्यर्पितमनोबुद्धि अर्थात् सदा ही ईश्वरपरायण कहा जाता है। इसप्रकार तुम सदा ही चिन्तन में तत्पर (रत) रहकर जिस प्रकार की मेरी चिन्ता करते रहोगे उसके अनुसार (क्रममुक्ति से या सद्योमुक्ति से) माम् एव—मुझको ही (मेरी बुद्धि चैतन्यस्वरूप अद्वितीय सत्ता को ही) एष्यसि—प्राप्त होओगे असंशयः—इस विषय में कोई संशय नहीं है।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—जब कि पूर्ववासना ही अन्तकाल में (मृत्यु-समय) चिन्तित विषय की स्मृति का हेतु होती है (क्योंकि उस समय इन्द्रियाँ तथा मन एवं बुद्धि विवश होने के कारण मरणोन्मुख जीव का स्मरण करने का स्वतन्त्र उद्यम (प्रयत्न) सम्भव नहीं है। तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च–इसलिये सभी समय (सर्वदा) मेरा स्मरण (अनुचिन्तन) कर निरन्तर स्मरण तो चित्तशुद्धि के विना नहीं हो सकता है अतः युद्ध भी करो अर्थात् चित्तशुद्धि के लिये युद्धादिरूप स्वधर्म का भी अनुष्ठान करो। मय्यर्पितमनोबुद्धिः इत्यादि—इस प्रकार से संकल्प विकल्पात्मक मन और

निश्चयात्मिका बुद्धि भी मुझमें अर्पित हो जायगी। जब मुझमें मन और बुद्धि पूर्णतया समर्पित हो जायगी अर्थात् मुझको छोड़कर दूसरा कोई चिन्तन का विषय नहीं रहेगा तब तुम मुझे ही प्राप्त होओगे इसमें संशय नहीं है।

(२) शंकरानन्द—ब्रह्मवित् यतिओं का ध्यान करना अवश्य कर्तव्य है, इसे सिद्ध करने के लिए अर्जुन के उद्देश्य से युक्त अर्थ का पुनः दृढ़ीकरण कर रहे हैं।

चूँकि अन्तकाल में दृश्य की भावना (जागतिकविषय की भावना) के कार्य होने के कारण शरीर के आरम्भ का हेतु है, तस्मात्—इसलिये तुम (अर्जुन सर्वेषु—समस्त कालेषु—कालों में (समयों में) अर्थात् आहार, शयन, आसनादि अवस्थाओं में मयि—मुझमें अर्पितमनोबुद्धिः (सन्) माम् एव—अर्पितमनोबुद्धि होकर [इस स्थान में 'मयि' यह शब्द विषय-सप्तमी है; बुद्धि 'अहं' वृत्ति एवं मन 'इदं' वृत्ति है। मुझको ही इन दोनों का विषय कर [समर्पित (मेरे स्वरूप में स्थापित) किये हैं मन तथा बुद्धि जिसने वह 'मय्यर्पितमनोबुद्धि।' ऐसा होकर 'अहं' एवं 'इदं' के अर्थभूत] माम् अनुस्मर—मेरा ही स्मरण करो। जो वृत्ति मेरा स्मरण करती है—मुझे विषय करती है उसके अनुसार स्मरण करो, अनुगत सजातीय वृत्ति के द्वारा मेरा अनुसन्धान करो, बीच में भिन्न वृत्तियों को अवकाश मत दो। ऐसा न करने पर (भिन्न वृत्तियों को अवकाश देने पर) बाह्य वासनायें नष्ट नहीं होती, वे नष्ट नहीं होने पर संसार से निवृत्ति नहीं होती। पुङ्खानुपुङ्ख के समान अविच्छिन्न मद्वृत्ति के द्वारा "यह सब एवं मैं ब्रह्म ही हूँ" इसप्रकार सर्वदा (एवं सर्वत्र ब्रह्ममात्र वृत्ति द्वारा) मेरा ही अनुसन्धान (चिन्तन) करो। इस प्रकार सदा अनुसन्धान करते करते तुम परब्रह्म मुझे एष्यसि—प्राप्त होओगे अर्थात् पूर्ण—आनन्दैकरस—आत्मरूप से अवस्थानरूप ब्रह्मभाव को प्राप्त होओगे। 'मुझको पुनः शरीर ग्रहण करना पड़ेगा कि नहीं' ऐसा असंशयम्—संशय नहीं करना चाहिए, अर्थात् मेरे वचन में श्रद्धा रखो, यही अर्थ है।

शंका—विजातीय प्रत्यय-रहित होकर सर्वदा 'सब कुछ ब्रह्म ही है' इसप्रकार देखने से मेरा जीवननिर्वाह किस प्रकार से होगा? उत्तर में कह रहे हैं—

'युद्धय च' इत्यादि तुम क्षत्रिय हो इसलिए स्वीय जीवन निर्वाह करने के लिए युद्धय च—युद्ध करो।

शंका—ब्रह्मानुसन्धान तथा युद्धक्रिया के प्रत्यय (वृत्ति) में भेद है, दोनों के साधन में भेद है एवं स्थिति भी भिन्न है, अतः वे दोनों परस्पर विरुद्ध होने के कारण दोनों का एक ही समय (काल) में एकही अधिकरणमें (अर्थात् एकही व्यक्ति के लिये होना जब सम्भव नहीं है तब दोनों को एक साथ कैसे किया जा सकता है ?

समाधान—इस प्रकार की शंका भी युक्त नहीं है क्योंकि 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः' इस पूर्वोक्त रीति से कर्ता, करण, कार्य; भोक्ता, भोज्य एवं भोजन—सभी ब्रह्म ही हैं इसप्रकार सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि के द्वारा जो केवल शरीर के निर्वाहके उपयोगी (अनुकूल) कर्म है, वही करना चाहिए, दूसरा नहीं। विद्वान को भी अतिप्रवृत्ति से वासना की वृद्धि होगी, उससे पुनः जन्मादि संसार प्राप्त होगा इसलिए सर्वदा एवं अन्तकाल में भी ब्रह्मविद् को ब्रह्मानुसन्धान करना उचित है, यह सिद्ध हुआ।

(३) नारायणीटीका—सर्वेषु कालेषु माम् अनुस्मर—पूर्ववासना तथा संस्कार ही मृत्युकाल में स्मृति का हेतु होता है इसलिए सर्वदा मेरा ही चिन्तन करो क्योंकि मृत्यु के समय सभी इन्द्रियाँ विवश तथा विकल हो जाती हैं अतः स्वतन्त्रभाव से जो देवता या वस्तुविशेष में 'तद्भावभावित' नहीं हुआ उसका स्मरण करने का उद्यम या प्रयत्न सम्भव नहीं होता। जीवन भर किसी विषय के चिन्तन का परिपक्व अभ्यास रहने से ही मृत्यु के समय विवश-अवस्था में विना प्रयत्न से उस विषय का स्मरण होना सम्भव है। अतः मुझे (परमेश्वर वासुदेव को) यदि प्राप्त करना चाहो तो जीवन भर निरन्तर मेरी ही चिन्ता करो—यही यहाँ कहने का अभिप्राय है। युद्धय च—(युद्धय च) चित्तशुद्धि के बिना भगवान् का सतत् स्मरण नहीं हो सकता। निष्कामभाव से सर्व कर्म भगवान में अर्पण करते हुए स्वधर्मपालन का अभ्यास करने से चित्तशुद्धि होती है। अतः चित्तशुद्धि के लिए युद्धादि स्वधर्म का अनुष्ठान करना चाहिए यही भगवान् के कहने का अभिप्राय है। मय्यर्पितमनोबुद्धि इत्यादि—भगवदर्पणबुद्धि से सभी कर्म का अनुष्ठान करके चित्तशुद्धि लाभ करने पर स्वतः ही मन व बुद्धि भी भगवान् में अर्पित होती हैं अर्थात् उस प्रकार कर्मयोगी सर्वदा ब्रह्मचिन्तन ही करता रहता है। उसका फल क्या है ? इसके उत्तर में भगवान् कह रहे हैं कि 'मय्यर्पितमनोबुद्धि' होने पर अन्त में क्रमशः या सद्य मुझको ही प्राप्त होओगे, इस विषय पर संशय नहीं करना चाहिए।

जिस योगीने निर्गुणब्रह्म की उपासना कर ज्ञानलाभ किया है परन्तु अभी तक जिनको ज्ञाननिष्ठा नहीं हुई उसके लिए 'युद्धय च' शब्द का इस प्रकार अर्थ है—प्राचीन संस्कारवश चञ्चल मन जहाँ भी जाता रहेगा वहाँ से मन को लौटाकर बारंबार प्रवृत्ति के साथ युद्ध कर (अर्थात् मन को विषयों से निवृत्ति कर) ब्रह्म में ही स्थित करने के लिये (अर्थात् ब्राह्मीस्थिति प्राप्त करने के लिये) पुनः पुनः प्रयत्न करो जिससे एक क्षण के लिए भी मेरा अनुस्मरण खण्डित न हो सके।

मामेव एष्यसि—मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि यहाँ जो उपासक सगुण ब्रह्म को उपासना करते हैं उनके लिये ही यहाँ उपदेश दे रहे हैं क्योंकि उनकी भगवत्प्राप्ति के लिये अन्तकालिक भावना की अपेक्षा होती है किन्तु जो लोग निर्गुण ब्रह्मज्ञानी हैं उनके ज्ञानोत्पत्ति के साथ साथ ही अज्ञान-निवृत्तिरूप मुक्ति हो जाती है अर्थात् उनको जीवितावस्था में ही (ब्रह्म के साथ ऐक्यरूप) मोक्षलाभ होता है, इसलिए उनकी भगवत्प्राप्ति या मुक्ति के लिए मृत्युकाल की भावना को कोई अपेक्षा नहीं रहती है। [मधुसूदन सरस्वतीने ज्ञाननिष्ठ—ब्रह्मज्ञ पुरुष को ही लक्ष्य कर कहा है कि उनकी मुक्ति के लिए मृत्युकाल की भावना की अपेक्षा नहीं होती किन्तु निर्गुण ब्रह्म के साथ आत्मा का ऐक्यज्ञान जो लोग प्राप्त किये हैं परन्तु उस ज्ञान में निष्ठा (निरन्तर स्थिति) जो लोग प्राप्त नहीं किये हैं (गीता १८।५० श्लोक द्रष्टव्य) उनके लिये भी सदा ब्रह्मचिन्तन के अभ्यास का शास्त्रों में उपदेश दिया गया है।] अतः इस श्लोक में केवल सगुण उपासकों को ही उद्देश्य कर भगवान् ने कहा है यह समीचीन नहीं प्रतीत होता है। निर्गुण ब्रह्मोपासक जो अपरोक्ष साक्षात्कार लाभ किये हैं परन्तु अभी भी ज्ञाननिष्ठा प्राप्त नहीं किये हैं उनके लिए भी समानरूप से 'सर्वेषु कालेषु माम् अनुस्मर' इस प्रकार उपदेश प्रयुक्त हो सकता है।

[निरन्तर अनुस्मरण ही भगवत्स्वरूपताप्राप्ति का साधन है यह पूर्वश्लोक में कहा है। सतत स्मरण जो केवल अभ्यास के द्वारा ही सम्भव है अर्थात् निरन्तर स्मरण का अन्तरंग साधन है अभ्यास, वह अब कहा जा रहा है।]

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

अन्वय—हे पार्थ! अभ्यासयोगयुक्तेन न अन्यगामिना चेतसा अनुचिन्तयन् दिव्यं परमं पुरुषं याति।

अनुवाद—हे पार्थ ! (योगिगण) अभ्यासरूप योग से युक्त होकर अनन्यपरायण (एकाग्र) चित्त के द्वारा सर्वदा उस दिव्य अर्थात् आदित्य-मंडल मध्यवर्ती (स्वयंप्रकाश) परमपुरुष को चिन्ता करते हुए उन्हीं को ही प्राप्त होते हैं।

भाष्यदीपिका—हे पार्थ ! हे अर्जुन ! तुम्हारी माता पृथा (कुन्ती) निरन्तर अभ्यास के द्वारा ही मेरा निरन्तर स्मरण रखने में तथा मुझमें चित्त समाहित रखने में समर्थ हुई थी। तुम उन्हीं के पुत्र हो एवं स्वयं मेरे मुख से उपदेश सुनने का सौभाग्य प्राप्त किये हो अतः तुम मुझ दिव्य (स्वयंप्रकाश) परमब्रह्मस्वरूप को प्राप्त होओगे इस विषय में और क्या संशय रह सकता है ? ऐसा प्रोत्साहन देने के लिए श्रीभगवान् ने यहाँ 'पार्थ' कहकर सम्बोधन किया।

अभ्यासयोगयुक्तेन—पूर्वश्लोक में मन तथा बुद्धि को परमात्मा में समर्पित रखने के लिये कहा गया अतः चित्तसमर्पण का एकमात्र विषय है परमात्मा। यह परमात्मा को ही विषय कर जो एकाकारा (ब्रह्माकारा) चित्तवृत्ति की आवृत्ति [अर्थात् केवल परमात्मा को अवलम्बन करके ही जब एकजातीय (तुल्य) प्रत्ययप्रवाह (ज्ञानधारा)] निरन्तर चलता रहता है, एवं इसमें परमात्मा से अतिरिक्त अन्य विषय को आश्रय कर किसी विलक्षण वृत्ति का उदय नहीं होता है अर्थात् परमात्मविषयक चित्तवृत्ति अन्य किसी जागतिकविषयवृत्ति से कभी विच्छिन्न नहीं होती है तब उस ब्रह्माकारा वृत्ति की आवृत्ति को अभ्यास—कहा जाता है। वह अभ्यास ही योग—या समाधि है। इस प्रकार अभ्यासयोग में ही योगी का जो चित्त युक्त (व्याप्त) रहता है अर्थात् जो चित्त निरन्तर निरवच्छिन्न रूप से आत्माकारा वृत्ति में व्याप्त रहता है उसे 'अभ्यासयोगयुक्त' चित्त कहा जाता है। उसके द्वारा [श्रीधरस्वामी के मत में अभ्यासयोगयुक्तेन स्वजातीय (आत्माकारा) प्रत्यय (वृत्ति) प्रवाह को अभ्यास कहा जाता है। वही योग अर्थात् उपाय है, उससे युक्त (एकाग्र) हुए चित्त के द्वारा] **न अन्यगामिना चेतसा**—अभ्यासयोगयुक्त होने से चित्त अनन्यगामी होना चाहिए। मुझसे (परमात्मा से) भिन्न अन्य किसी विषय में आसक्त होकर गमन करना जिनका स्वभाव नहीं है अर्थात् अभ्यास के पटुतावशतः चित्तवृत्ति के निरोध का प्रयत्न नहीं करने पर भी जो चित्त स्वभावतः ही मुझ परमात्मा को छोड़कर किसी विषय के प्रति नहीं जाता है उस चित्त को 'न + अन्यगामी' कहा जाता है, ऐसे चित्त के द्वारा अर्थात् ऐसे 'अभ्यासयोगयुक्त'

एवं 'नान्यगामी' चित्त के द्वारा अनुचिन्तयन्—शास्त्र तथा आचार्य के उपदेश के अनुसार (अनु) चिन्ता (ध्यान) करते हुए दिव्यं—दिव्य (दिवि भवं अर्थात् सूर्य—विराजित (सत्) है एवं स्वयंप्रकाश तथा सर्वप्रकाशक (चित्त) हैं । जगत्प्रकाशक सूर्य भी परमात्मा के प्रकाश से ही प्रकाशमान है, तथापि सूर्यमंडल में परमात्मा की विशेष अभिव्यक्ति होती है, ऐसा कहा जाता है । किन्तु सूर्यमंडल की आत्मा तथा जीव की आत्मा एक ही है, यह उपनिषद् में कहा गया है। तत्त्वदर्शी (ब्रह्मवित्) पुरुष का अनुभव होता है कि उस आदित्यमंडल के मध्यवर्ती पुरुष और मैं एक ही हूँ (ईश० उ० १६)। अतः दिव्य शब्द का अर्थ है स्वयंप्रकाश परमात्मा। परमं—निरतिशय। जिसे अनर्थ बिन्दुमात्र भी स्पर्श नहीं कर सकता है एवं निरतिशय आनन्दस्वरूप (आनन्दगिरि) है ऐसा पुरुषं—पूर्णस्वरूप परम तत्त्व ब्रह्म को (जिससे और कुछ अतिशय (अधिक) नहीं रह सकता है उस परब्रह्म को (मधुसूदन) याति—प्राप्त होते हैं। श्रुति भी ठीक ऐसा ही कहती है—'यथा नद्यः स्यन्द-मानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान् पुण्यपापे विधूय परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' (मु० उ०)।

टिप्पणी (१) श्रीधर—परमात्मा के निरन्तर स्मरण का अभ्यास भी परमात्मा की प्राप्ति का अन्तरंग साधन है, यह अब दिखाते हुए कह रहे हैं—अभ्यासयोगयुक्तेन—सजातीयवृत्ति (एक ही ध्येय वस्तु की तदाकारा वृत्ति) के प्रवाह को अभ्यास कहते हैं। वही योग अर्थात् उपाय है उससे युक्त अर्थात् एकाग्र चित्त को अभ्यासयोगयुक्तचेताः' कहते हैं। नान्यगामिना चेतसा—इस प्रकार चित्त के द्वारा अर्थात् जिस चित्त का ध्येय (आत्मा) के अतिरिक्त अन्य विषय में जाने का स्वभाव (प्रवृत्ति) नहीं है उसके द्वारा अनुचिन्तन् दिव्यं परमं पुरुषं याति—दिव्य (प्रकाशमय) परम पुरुष का (परमात्मा का) निरन्तर अनुचिन्तन करते-करते अर्थात् शास्त्र तथा गुरु के उपदेशानुसार स्मरण (चिन्तन) करते हुए योगी उसी को (परमात्मा को) प्राप्त होते हैं अर्थात् उसके साथ एक हो जाते हैं।

(२) शंकरानन्द—शंका—आत्मज्ञान के द्वारा जिसके समस्त कर्म दग्ध हो गये हैं, ऐसे ब्रह्मविद् का कर्मभाव होने के कारण उनकी भावी शरीर की स्मृति एवं उसकी प्राप्ति कैसी होगी ? यदि कहो कि कर्मगति विचित्र है एवं इस कारण कर्म का तत्त्व जानना सम्भव नहीं है तब हम कहेंगे कि इस प्रकार की कर्मगति के द्वारा मृत्यु के समय में ब्रह्मानुसन्धान भी निरुद्ध हो जायगा।

समाधान—यह शंका युक्त नहीं है क्योंकि पूर्वाभ्यास से प्राप्त हुए योगबल के द्वारा योगी का ब्रह्मस्वरूप में अन्तःकरण के लीन होने के कारण वह स्वयं प्राणवेदना के समान कर्म एवं उसके कार्य को नहीं जानता। जिस प्रकार मद्यपायी व्यक्ति मद्य के वेग के कारण प्रारब्धजनित बाह्यवस्तु को नहीं जानता है किन्तु मद्यरस के वेग से प्राप्त कार्य को ही करता है, उस प्रकार यह योगी भी अभ्यास के द्वारा प्राप्त योगबल से ब्रह्म का ही ध्यान करते हैं एवं ब्रह्म को ही प्राप्त होते हैं, ऐसा ही कहने के अभिप्राय से भगवान कहते हैं—**अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा**-अभ्यासयोग युक्त चित्त द्वारा तीव्र मोक्षेच्छा तथा अति वैराग्य के द्वारा केवल ध्येयवस्तु में परायण होकर चिरकालपर्यन्त (दीर्घकाल तक) नित्य निरन्तर की हुई (विजातीय प्रत्ययरहित) जो सजातीय प्रत्यय की आवृत्ति है, वही यह अभ्यास अर्थात् समाधि है—इस अभ्यास के द्वारा जो निर्विकल्प समाधि प्राप्त किया जाता है वह योग है, उससे युक्त) अर्थात् ब्रह्मकारताप्राप्त इसलिए **न अन्यगामिना**—अन्यगामी नहीं है (अर्थात् भावी कर्म का कार्य जो प्राण, इन्द्रिय आदि रूप विक्षेप हैं उनको अथवा अन्य वस्तु को प्राप्त होने की या मनन करने की वासना—शक्ति जिसकी नहीं है, वह नान्यगामी है।) इस प्रकार **चेतसा**—चित्त के द्वारा **अनुचिन्तयन्**—अनुचिन्तन करते करते (उक्त रीति से स्वरूप का ही ध्यान करते करते) **परमं**—ब्रह्मविद्याति परमं अर्थात् निरतिशय महत्त्व विशिष्ट **दिव्यं**—दिव्य अर्थात् केवल प्रकाशरूप **पुरुषं**—पुरुष को (परमात्मा को) **याति**—प्राप्त होते हैं, यही अर्थ है।

(३) **नारायणी टीका**—इस श्लोक में 'अभ्यासयोगयुक्तेन' शब्द के द्वारा अभ्यास तथा 'नान्यगामिना' शब्द के द्वारा वैराग्य के सम्बन्ध में कहा गया है। कोई एक ध्येयवस्तु में स्थितिलाभ करने के लिये पुनः पुनः यत्न करने को अभ्यास कहते हैं [तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः (पा० यो०)] अर्थात् चित्त का विजातीय (ध्येय से अन्य वस्तुविषयक) प्रत्यय दूर कर सजातीय (ध्येयाकार) प्रत्यय को (वृत्ति को) प्रवाहित कराना ही अभ्यास है। और ध्येय परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी जागतिक वस्तु की आसक्ति नहीं रहना एवं कोई अनात्मवस्तु का स्मरण नहीं करने को वैराग्य कहते हैं। योगशास्त्र में कहा गया है "अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः" (पा० यो०)। अभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा प्रथमतः चित्त की विषयाकारा वृत्ति का निरोध होने पर ब्रह्माकारावृत्तिप्रवाह से परमात्मा में स्थिति करने का अभ्यास चलता है। उस अवस्था में ही परमात्मा का निरन्तर स्मरण होता रहता है क्योंकि

उस समय मन तथा बुद्धि परमात्मा में सम्पूर्णरूप से अर्पित रहते हैं। दिव्य (स्वयंप्रकाश एवं सर्वप्रकाशक) परम पुरुष (सर्वोत्कृष्ट पूर्णतत्त्व अर्थात् परमात्मा सभी जीव में पूर्णरूप से प्रकट होकर जीवात्मा को परमात्मस्वरूप में परिणत कर देता है जिस प्रकार समुद्र नदियों को अपने में विलीन कर समुद्र बना देता है। इसी अवस्था में चित्तकी सभी वृत्ति का निरोध हो जाता है अतः जीव ब्रह्मस्वरूपता प्राप्त होकर जीवन्मुक्त के आनन्द में मग्न रहता है। इस प्रकार होना सभी ब्रह्मवित् पुरुष को अनुभव सिद्ध है। अतः इस विषय पर संशय करने का कोई अवकाश नहीं है। पूर्वश्लोकोक्त 'मय्यर्पित-मनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः' वाक्य का भी यही तात्पर्य है।

[पूर्ववर्ती कुछ श्लोकों में उपासना का स्वरूप कहकर अब उपास्य परमपुरुष जिसके प्राप्ति के सम्बन्ध में अष्टम श्लोक में कहा है उसका स्वरूप क्या है ? अर्थात् वह किन विशेषणों से युक्त है ? वह अब कहा जा रहा है]

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥
प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ १० ॥

अन्वय—तमसः परस्तात् आदित्यवर्णम् अचिन्त्यरूपं सर्वस्य धातारम् अणोः अणियांसम् पुराणम् अनुशासितारं कविम् यः अनुस्मरेत् सः प्रयाणकाले भक्त्या युक्तः (सन्) अचलेन मनसा योगबलेन च एव भ्रुवोः मध्ये प्राणं सम्यक् आवेश्य तं दिव्यं परं पुरुषम् उपैति।

अनुवाद—अविद्यारूप अन्धकार के अतीत आदित्यवत् स्वप्रकाश तथा स्वयंप्रकाश, अचिन्त्यरूप (कोई विशेषरूप से चिन्तनयोग्य नहीं है क्योंकि वह अप्रमेय अर्थात् अनन्त है) ब्रह्मांड के विधाता (पालयिता) सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म, पुराण (अनादि एवं चिरन्तन) सभी जगत् के अनुशासिता (विश्वनियन्ता) कवि को (अर्थात् सर्वज्ञ को) जो व्यक्ति गुरु तथा शास्त्र द्वारा उपदिष्ट मार्गानुसार सतत स्मरण करते रहते हैं वे मृत्यु के समय में भक्तियुक्त होकर निश्चलमन से योगबल के द्वारा (अर्थात् चित्तको पहले भक्ति पूर्वक हृदयपुंडरीक में धारण कर उसे वश में लेकर सुषुम्नानाड़ी के द्वारा) प्राण को भ्रूमध्य में (आज्ञा चक्र में) स्थापन कर (ब्रह्मरन्ध्र भेदन कर)

प्राणत्याग करते हैं वे उस ज्योतिर्मय (स्वयंप्रकाश) परमपुरुष को (निरतिशय आनन्द स्वरूप परमात्मा को) प्राप्त होते हैं।

भाष्यदीपिका—तमसः परस्तात्—तुम अर्थात् अज्ञान रूप मोहान्धकार सर्वथा अर्थात् क्योंकि आत्मा प्रकाशस्वरूप (ज्ञानस्वरूप) होने के कारण तम (अज्ञान) के अत्यन्त विरोधी है। संसार का मूल कारण जो अज्ञान एवं उसका कार्यरूप जो जगत् प्रपंच है उसके ऊर्ध्व में सम्पूर्ण विलक्षण रूप से वह स्थित रहता है। अतः अज्ञान तथा उसके कार्य परमार्थतः उसे स्पर्श नहीं कर सकता है यही तात्पर्यार्थ है। श्रुति में भी कहा गया है 'असंगोऽयमात्मा' अर्थात् यह आत्मा असंग अर्थात् निर्लेप है अतः कुछ भी उसे स्पर्श नहीं कर सकता।

आदित्यवर्णम्—आदित्य के समान आत्मा नित्यचैतन्य प्रकाशरूप वर्ण वाला है। आदित्य जिस प्रकार जगत् प्रकाशक है उस प्रकार परमात्मा नित्यचैतन्य प्रकाश रूप (ज्ञानस्वरूप) है। ज्ञान के विना कोई पदार्थ प्रकाशित नहीं हो सकता अतः परमात्मा आदित्य तथा निखिल विश्व सभी का ही अवभासक (प्रकाशक) हैं। इसलिये श्रुति में कहा गया है 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम् तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (मुंडक० उ०) अर्थात् उनके प्रकाश से ही निखिल ब्रह्माण्ड का सब कुछ प्रकाशित होता है ब्रह्मविद् गण इस आदित्यवर्ण पुरुष को ही सर्वज्ञ देखते हैं। इसलिये श्रुति कहती है 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् (कैवल्योपनिषद्) अर्थात् अज्ञानान्धकार से अतीत आदित्य के समान सर्वप्रकाशक महान् पुरुषको मैं जानता हूँ।

अचिन्त्यरूपम्—जिसकी सत्ता नियत (सर्वदा) विद्यमान रहते हुए भी कोई उसके रूप का चिन्तन नहीं कर सकता है अर्थात् वह सर्वरूप से विद्यमान रहते हुए भी उसके कोई विशेष रूप का चिन्तन नहीं कर सकता है क्योंकि उसकी महिमा का कोई परिमाण या सीमा नहीं है वह अनन्त है अतः उसकी महिमा भी अनन्त है। श्रुति भी कहती है 'एतदप्रमेयं ध्रुवमिति यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' अर्थात् वह अप्रमेय है प्रत्यक्ष अनुमानादि कोई प्रमाण का विषय नहीं है वह ध्रुव (नित्य) है 'जिसको न पाकर मन तथा वाणी लौट आती हैं' इत्यादि।

सर्वस्य धातारम्—जो सभी के कर्मफलों के धाता (विधाता) है। कर्म विचित्र हैं अतः उनके परिणाम भी विचित्र हैं। जो उन कर्मों के विचित्र

परिणामों को (फलों को) प्राणियों की योग्यतानुसार विभाग कर देता है उसे धाता या विधाता [वि (विचित्र) धाता] कहा जाता है। [(वे० सू० ३।२।२८) फलमत उपपत्तेः] अणोः अणीयांसम्—परमात्मा अणु (सूक्ष्म) से भी अणुतर (सूक्ष्मतर) अर्थात् सूक्ष्म आकाशादि पदार्थ से भी सूक्ष्मतर है क्योंकि परमात्मा सूक्ष्म आकाशादि के भी उपादान कारण है। पुराणम्—परमात्मा चिरन्तन नित्य व अनादि हैं क्योंकि वह आदिमत् (अर्थात् सभी उत्पत्तिशील) वस्तुओं का कारण है।

अनुशासितारम्—वह समस्त जगत् के प्रशासिता है अर्थात् निखिल जगत के नियन्ता है [(बृ० उ० ३।७ (अन्तर्यामी ब्राह्मण) द्रष्टव्य)]।

कविम्—वह परमात्मा क्रान्तदर्शी है अर्थात् अतीत एवं अनागत (भविष्यत्) अशेष वस्तु का दर्शन करता है अर्थात् सर्वज्ञ है। इन विशेषणों से विशिष्ट परमात्माको यः अनुस्मरेत्—जो मुमुक्षु गुरु तथा शास्त्रोपदिष्ट मार्ग के अनुसार सतत स्मरण करता है [वह उस दिव्य (स्वयंप्रकाश) परम पुरुषको (परमात्मा को) प्राप्त होता है इस प्रकार अन्वय करना होगा अथवा परवर्ती श्लोक के 'स. तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' इस अंश के साथ इसका अन्वय करना होगा]।

[तब किस समय ईश्वर की चिन्ता के लिए अधिक प्रयत्न करना आवश्यक है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—] सः—जो मुमुक्षु प्रयाणकाले—मृत्यु के समय में अचलेन मनसा—निश्चल अथवा एकाग्र मन से। मन विषयाभिमुखी होकर चंचल होने पर भगवान् के चिन्तन में स्थितिलाभ नहीं कर सकता है। अचिन्त्यरूप होने पर भी शुद्ध मन से उसको जानना पड़ेगा। इसलिये श्रुति कहती है—'मनसैवानुद्रष्टव्यमिति' अर्थात् मनसे उसको देखना होगा। विषय से मन को निवृत्त कर बारंबार प्रयत्न के द्वारा भगवान् के चिन्तन में मन को व्यापृत रखने से मन एकाग्र होकर निश्चल हो जाता है। इसप्रकार स्थिरीकृत मन के द्वारा ['अनुस्मरेत् यः' अर्थात् उस पुरुष को जो चिन्तन करते हैं—इस अंश का पूर्व श्लोक से लाकर अन्वय करना पड़ेगा। अब प्रश्न है किस उपाय से उसका स्मरण करना होगा ? उत्तर में कह रहे हैं—] भक्त्या युक्तः—भक्ति के द्वारा युक्त होकर। भक्ति अर्थ ज्ञान अथवा परमात्म विषयक प्रेम, उसके द्वारा युक्त होकर अर्थात् परमेश्वर में अतिशय प्रेम के साथ एवं उससे अन्य विषय के प्रति अत्यन्त विरक्ति (वैराग्य) पूर्वक योगबलेन च एव—योग का अर्थ है समाधि अर्थात् परमात्मा से भिन्न अन्य विषय की वृत्ति निरोध कर परमात्मा में ही चित्त की जो स्थिति रहती

है उसी को ही योग या समाधि कहा जाता है। समाधि का अभ्यास करते रहने पर समाधिजनित संस्कार वृद्धि प्राप्त होता रहता हैं एवं व्युत्थानकालीन (विषय) संस्कार अभिभूत (क्षीण) होता रहता है एवं उसके स्वाभाविक परिणाम रूप से चित्त का स्थैर्य उत्पन्न होता है। इसे ही योग या समाधि का बल कहा जाता है। ऐसे योगबल से युक्त होकर [समाधि के अभ्यास के द्वारा व्युत्थानकालीन सं कार क्षीण होता है एवं उस समाधि के संस्कार से चित्त का स्थैर्य उत्पन्न होता है। पातंजल योगशास्त्र में भी कहा गया है— 'सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः' (पा० यो० ३।११) अर्थात् चित्त का जब सर्वविषयतारूप धर्म का (चित्त विषयाभिमुखी होकर जो विविध विषय का आकार धारण करता है उस विक्षिप्तरूप धर्म का) क्षय एवं चित्त की एकाग्रतारूप धर्म के उदय को ही चित्त का समाधिपरिणाम कहा जाता है। 'च' शब्द का अर्थ है भक्ति के समान इसप्रकार योगबल के द्वारा भी युक्त होकर। 'स्व' शब्द का तात्पर्य यह है कि यही निश्चित उपाय है, दूसरा उपाय अवलम्बन करने का प्रयोजन नहीं है।

भ्रुवोर्मध्ये सम्यक् प्राणम् आवेश्य—सम्यक् प्रकार से अर्थात् अप्रमत्त होकर (सभी प्रकार की असावधानता को त्याग कर) प्राण को भ्रुकुटियों के बीच में स्थापन कर हृदय पुंडरीक ही (हृदय कमल ही) परमात्मा का विशेष स्थान है (छा० उ० ८।१ द्रष्टव्य)। चित्त स्वभावतः विषय में व्यापृत रहता है, अतः पहले विषय से चित्त को विमुख कर (निवृत्त कर) हृदय पुंडरीक में (हृदय कमल में) अर्थात् अनाहत चक्र में परमात्मा का स्वरूप धारण कर चित्त को वशीकृत करके फिर ऊर्ध्वगामिनी सुषुम्ना नाडी के द्वारा हृदिस्थित प्राणवायु को कण्ठ में (विशुद्ध चक्र में) लाकर अतः पर भूमिजय क्रम से [प्रत्येक भूमि को (चक्र को क्रम से जय करता हुआ) भ्रुकुटियों के मध्य में (आज्ञा चक्र में) सावधानता के साथ प्राण को स्थापित कर 'एवं तत् पश्चात् भेदन कर उत्क्रमण (प्राणत्याग) कर] सः—वह योगी तम्—'कवि पुराण अनुशासिता' इत्यादि लक्षणों से विशिष्ट एवं अष्टम श्लोक में उक्त वह दिव्यं परमं पुरुषम् उपैति—द्योतनात्मक अर्थात् स्वयंप्रकाश परम पुरुष को प्राप्त होता है।

तात्पर्य—भक्तिबल अथवा योगबल के द्वारा ही अर्थात् उनके परिपक्व अभ्यास के प्रभाव से मृत्युकाल में इन्द्रियाँ विवश होने पर भी विना प्रयत्न से परमात्मा का सगुणभाव अनुसरण करना सम्भव है एवं शरीर त्याग करने के बाद क्रममुक्ति की प्राप्ति होती है अर्थात् अन्त में उस दिव्य (स्वयं-

प्रकाश) परमपुरुष को प्राप्त होकर संसारगति से मुक्त होना सम्भव है। ज्ञानमार्ग में ज्ञाननिष्ठा होने से और उत्क्रमण नहीं होता है, देहत्याग के साथ-साथ ही ज्ञानी ब्रह्म में लीन हो जाता है। यही इन श्लोको में (५-१० श्लोकों में जो कहा गया है उसका तात्पर्य है।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—जिस पुरुष को बारंबार चिन्तन करने के लिये श्रीभगवान् ने कहा था उस चिन्तन करने योग्य पुरुष की कविम् इत्यादि दो श्लोकों से विशेषता बता रहा है—कविम्—जो समस्त विद्याओं का निर्माता अर्थात् सर्वज्ञ पुराणम्—अनादिसिद्ध अर्थात् अनादि काल से विद्यमान अनुशासितारम्—सबका नियन्ता अणोः अणीयांसम्—सूक्ष्म से भी अति-सूक्ष्म अर्थात् आकाश, काल, दिशा आदि से भी अत्यन्त सूक्ष्मतर सर्वस्य धातारम्—सर्व का धाता अर्थात् पोषक अचिन्त्यरूपम्—असीम महिमा से युक्त होने के कारण अचिन्त्यरूपवाला अर्थात् मलिन मन तथा बुद्धि का अगोचर (अविषय) आदित्यवर्णम्—सूर्य के समान अपने को एवं दूसरों को प्रकाशित करना जिसका वर्ण (स्वरूप) है एवं तमसः परस्तात्—तमः अर्थात् प्रकृति से अत्यन्त परे (अर्थात् विलक्षण—प्रकृति से अतीत रूप से) विद्यमान है (उसका जो बारंबार स्मरण करता है इसप्रकार पूर्व श्लोक के साथ संगति रखकर अन्वय करना पड़ेगा)। श्रुति भी परमात्मा का ऐसा ही वर्णन करती है—'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्' अर्थात् इस आदित्यस्वरूप, अन्धकार से अत्यन्त पर, महान् पुरुष को मैं जानता हूँ। (उक्त प्रकार से) प्रपञ्च के साथ प्रकृति का भेदन करके जो स्थित है (अर्थात् जो सर्व प्रपञ्च तथा प्रकृति से अतीत है) ऐसे परमपुरुष को अन्तकाल में (मृत्यु के समय) जो भक्तियुक्त होकर निश्चल अर्थात् विक्षेप रहित मन से स्मरण करता है। मनको विक्षेपरहित कैसे किया जाय उसे बताते हैं—योगबलेन च एव—मन की निश्चलता का हेतु होता है योगबल उसके द्वारा सुषुम्णा नाडी के मार्ग से भ्रुकुटियों के बीच में प्राणों को सम्यक् रूप से प्रविष्ट करके जो निरन्तर चिन्तन करता रहता है, वह योगी उस दिव्य (स्वयंप्रकाश) परमात्मस्वरूप को प्राप्त होता है।

(२) शंकरानन्द—नवम श्लोक-'य एवमेताल्लोकानात्मन्येव प्रतिष्ठितान् वेदात्मैव भवति' ('जो इस प्रकार आत्मा में ही इन लोकों को जानते हैं, वह आत्मा ही हो जाता है') इस श्रुति से सर्वात्मक परमात्मा की उपासना कहकर उपासक का 'योऽयं विज्ञानघन उत्क्रामन् केन कतरद्वाव स्थानमुत्सृज्योत्क्रामति' ('जो उत्क्रमण कर रहा है वह विज्ञानघन है, वह किसके

द्वारा किस स्थान का त्याग कर उत्क्रमण कर, शरीर से उत्क्रमण के प्रकार का वर्णन करने के लिए 'अपुनर्भवाय कोशं भिनत्ति कोशं भित्त्वा शीर्षकपालं भित्त्वा अक्षरं भिनत्यक्षरं भित्त्वा मृत्युं भिनत्ति मृत्युर्वै परे देवे एकीभवति' ('ताकि पुनर्जन्म न हो इसलिए कोश का भेदन करता है, कोश का भेदन कर मस्तक के कपाल का (ब्रह्मरन्ध्र का) भेदन करता है, मस्तक के कपाल का भेदन कर अक्षर का भेदन करता है, अक्षर का भेदन करके मृत्यु का भेदन करता है, मृत्यु परदेव एकीभूत हो जाती है')। श्रुति के द्वारा उक्त क्रम से उत्क्रान्त जीव की जिसप्रकार परदेवता प्राप्ति कही गई है, उस प्रकार ही इस स्थान में भी 'साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः' ('साधिभूत, साधिदैव एवं साधियज्ञ मुझे जो जानते हैं') इत्यादि के द्वारा सर्वात्मक परमात्मा की उपासना कहकर आत्मतत्त्व की उपासना की परिपाक-दशा में 'अन्तकाले च मामेव' ('एवं अन्तकाल में मुझको ही') इत्यादि के द्वारा उत्क्रमण एवं उस समय में विद्वान् के कर्तव्य कार्य क्या है वह सूचन कर अब भगवान् उत्क्रान्त उपासक का प्राप्तव्य जो ईश्वर सम्बन्धी परतत्त्व पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है, उसी का ही विशेषणों के द्वारा विस्तारपूर्वक व्याख्यान 'कविम्' इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

कविं—कवि (अतीत, अनागत तथा वर्तमान समस्त प्राणियों का, उनके धर्म को, उनके कर्म को एवं उनके चित्र-विचित्र फल को साक्षात् अर्थात् काल के व्यवधान के बिना जो जानते हैं वह कवि है अर्थात् सर्वज्ञ है) इस लिए अनुशासितारम्—अनुशासिता (समस्त प्राणियों के हृदय में अर्थात् बुद्धिकोश में स्थित होकर तत्-तत् (उस उस) प्राणि के कर्मों के अनुसार नियन्ता, यही अर्थ है) एवं सर्वस्य—सभी के धातारम्—विधाता समस्त प्राणियों को उनके द्वारा अनुष्ठित अनेक कोटि कल्पों से उपार्जित कर्मफल को जो देता है वह धाता (विधाता) है अतिसूक्ष्म पदार्थ का एवं आदि का भी कारण होने के कारण वह अणोः—अणु से अणीयांसम्—अति सूक्ष्म है। सभी के कारण होने से पुराणम्—वह पुराण अर्थात् अनादि है। अतिसूक्ष्म, अनादि एवं अप्रमेय होने के कारण वह अचिन्त्यरूपम्—अचिन्त्यरूप (अर्थात् वाणी एवं मन का अगोचर अर्थात् अविषय) है, आदित्यवर्णं—आदित्यवर्ण है [सूर्य के समान अविनाशी, नित्य चैतन्यरूप वर्ण (प्रकाश) जिसका है वह आदित्यवर्ण है] तमसः—तमः (अज्ञानरूप अन्धकार) के परस्तात्—पार में अवस्थित है अर्थात् मोहात्मक अज्ञान एवं उसके कार्य के परे स्थित है अर्थात् अज्ञान एवं अज्ञान-कार्य के सम्बन्ध से रहित है, यही अर्थ है।

इस प्रकार रूपसम्पन्न मुझ परमात्मा को यः अनुस्मरेत्—जो अनुस्मरण करता है अर्थात् अनेक जन्मों से अर्जित संचित पुण्यपुंज के परिपाक के द्वारा प्राप्त हुए ईश्वर-प्रसाद से सम्पन्न होकर सम्यक् प्रकार से स्मरण करता है अर्थात पूर्व-अभ्यस्त योग के बल से अन्तकाल में अनुसंधान करता है, वह उस परम पुरुष को प्राप्त करता है, इस प्रकार परवर्ती श्लोक के साथ संबन्ध है।

दशम श्लोक—उपासना करने वाला योगी 'कवि पुराण' इत्यादि लक्षण सम्पन्न परमात्मा को किस साधन सम्पत्ति के द्वारा एवं कब स्वयं प्राप्त होता है ऐसी आकांक्षा होने से कहते हैं 'प्रयाणकाले' इत्यादि तीव्र मोक्षेच्छा तथा वैराग्य के द्वारा चित्त को अनन्यवृत्ति कर अर्थात् आत्मा से भिन्न अन्य वस्तुसे निवृत्त कर नित्य एवं निरन्तर 'कवि' इत्यादि विशेषणों से युक्त परमात्मा का अनुसन्धान करते करते सः—वह योगी प्रयाणकाले—प्रयाणकाल में अर्थात् मरणकाल प्राप्त होने पर स्वयं अचलेन—अचल अर्थात् दीर्घदीनों तक नित्य-निरन्तर सजातीय प्रत्यय की आवृत्ति से जो अभ्यास होता है उस अभ्यास की अतिशय पटुता से (परिपक्व अवस्था से) निश्चल (अर्थात् अन्य विषयों से सम्पर्कवर्जित) हुआ मनसा भक्त्या—मन के द्वारा, भक्ति के द्वारा (वृत्ति की स्वविषयकारतापत्ति रूप भक्ति के द्वारा अर्थात् चित्तवृत्ति जब अपने ध्येय विषय में स्थिरता प्राप्त होकर ब्रह्माकारता प्राप्त होती है तब उसे भक्ति कहते है। उस भक्ति के द्वारा) च एव—तथा योगबलेन—योगबल के द्वारा [योग अर्थात् (समाधि के द्वारा) उत्पन्न बल से चित्त की केवल लक्ष्यैकाकारता-वृत्ति से जो स्थिरता होती है उस स्थिरता रूप बल से अर्थात् केवल लक्ष्य वस्तु की (ब्रह्म की) आकारता प्राप्ति से जो स्थिरता समाधि में होती है उसे समाधिबल या योगबल ही कहा जाता है। मुक्ति प्राप्ति के उस उत्तम साधन के द्वारा] युक्तो—युक्त होकर 'शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानम-भिनिःसृतैका तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' अर्थात् एकशत एवं एक (अर्थात् एक सौ एक) हृदय की नाडियाँ हैं, उन में से एक मूर्धा में होकर निकल गई है, उससे ऊपर जो जाता है [उस सुषुम्नानाडी से जो देहाभिमान छोड़कर शुद्ध चैतन्य सत्ताको अपनी आत्मारूप से अनुभव करता है] वह अमृतत्व प्राप्त होता है श्रुति के द्वारा कही गई रीति से पहले कुम्भक के द्वारा हृदय में प्राण एवं अपान का एकीकरण कर अर्थात् स्थापन कर अतः पर इड़ा एवं पिंगला इन दो नाड़ियों का एकीकरण कर तदनन्तर ऊर्ध्वगामी सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा प्राणं भ्रुवोः मध्ये—प्राण को भ्रुकुटीयों के मध्य में लम्बिकापर्यन्त (तालु के ऊपर सूक्ष्म जिह्वा तक) सम्यक्—सम्यग् रूप से ले जाकर

'शीर्षकपालं भित्त्वा' (शीर्षकपालको भेद कर) इस श्रुति में उक्त रीति से पृथ्वी को भेदन कर, जलको भेदन कर, तेजको भेदन कर, वायु को भेदनकर, मन को भेदन कर, अहंकार को भेदन कर, महत्तत्त्व को भेदन कर, अव्यक्तको भेदन कर, अक्षर को भेदन कर, मृत्यु को भेदन कर उस कवि, पुराण आदि उक्त लक्षणों से युक्त दिव्यम्—दिव्य अर्थात् प्रकाशैकस्वभाव परं—पर पुरुषम् उपैति—पुरुष को प्राप्त होता है। 'अन्तकाले च मामेव' इसके द्वारा अन्तकाल में भी ब्रह्मानुसन्धान की विधि है। 'सदा तद्भावभावितः' इसके द्वारा मृत्यु के पहले भी सर्वदा ब्रह्मानुसन्धान की विधि है 'तस्मात् सर्वेषु कालेषु' एवं 'अभ्यासयोगयुक्तेन' इसके द्वारा जैसा कहा गया है वह ब्रह्मविद् तथा सगुण उपासक दोनों के लिए भी यह उपदेश समान ही जानना चाहिए एवं उनको प्रयत्न के सहित पालन करना कर्तव्य है। कवि पुराण इसके द्वारा हुआ अर्थ तो उपासक के लिए ही है, ब्रह्मविद् के लिए नहीं, ऐसा विवेक है अर्थात् ऐसा समझना चाहिए।

(३) नारायणी टीका—पूर्व श्लोक में कहा गया है कि अभ्यासयोग द्वारा चित्त इसप्रकार परमात्मा में मग्न रहे कि जागतिक कोई विषय के प्रति चित्त धावित न हो तो वह अभ्यासयोगी स्वयंप्रकाश परमपुरुष को निरन्तर चिन्तन करते हुए उनको ही प्राप्त होता है। अब यह अभ्यासयोग (जो परम धाम की प्राप्ति का प्रधान साधन है यह) किस प्रकार से सिद्ध हो सकता है वह स्पष्ट कर रहे हैं—

जबतक मनुष्य अहंकार को ही जीवन का सारथिरूप से वरण कर लेता है—अहंकार की (मैं रूप वृत्ति की) प्रेरणा से सब कर्म करता है तबतक संसारचक्र में भ्रमण करता रहता है। बहु जन्मों की सुकृति के फल-रूप से जब उसका अनुभव होता है कि अहंकार की स्वतन्त्र कोई शक्ति नहीं है—उसको भी एक अचिन्तनीय शक्ति की प्रेरणा से अवश होकर कार्य करना पड़ता है (अहंकार का कर्तृत्वाभिमान अज्ञानकृत है, अतः वह मिथ्या ही है) एवं जगत के सभी भोग्य पदार्थ अनित्य व दुःखदायक हैं (गीता ९।३३) तब एक ओर जागतिक पदार्थ में क्रमशः अरुचि (वैराग्य) की उत्पत्ति शुरू होती है एवं दूसरी ओर अहंकार पर विश्वास व निर्भरता क्रमशः क्षीण होते जाते हैं। इसी अवस्था में अहंकार के भी प्रेरयिता (चालक) ईश्वर में शरण लेने की प्रवृत्ति तथा योग्यता उपस्थित होती है अर्थात् मनुष्य जब अपनी शक्ति की व्यर्थता अनुभव करता है तब एक महती शक्ति का आश्रय लेने की प्रवृत्ति स्वतः ही उसमें उदित होती है। जिसका पूर्ण भाव से

संसार के प्रति वैराग्य नहीं होता उसके लिये निर्गुण निराकार निष्क्रिय ब्रह्म के तत्त्व को धारण करना असम्भव है। उसके लिये अपने को जागतिक व पारमार्थिक सभी व्यापार में कृपापूर्वक सहायता करने के लिये एवं अन्त में अपने को संसार दुःख से त्राण पाने के लिये एक सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान नित्य स्वतन्त्र पुरुष की (दिव्य परमपुरुष की) आवश्यकता है जिसके पर पूर्ण निर्भरता कर (माता की गोद में आश्रित शिशु के समान) निश्चिन्त हो सके। यही भक्ति की अङ्कुरावस्था है। किन्तु जिसको आश्रय कर— जिसके शरणापन्न होकर जीव सर्वचिन्तारहित परमशान्ति प्राप्त करना चाहता है उसका परिचय (अर्थात् उसके सम्बन्ध में ज्ञान) की आवश्यकता है। इसलिये जिसके शरण लेने से मनुष्यजीवन का परमपुरुषार्थ (दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति व परमानन्द प्राप्ति अर्थात् मोक्ष) सिद्ध हो सकता है उसके (उस सगुण ब्रह्म के) स्वरूप किस प्रकार के हैं वह भगवान् अब कह रहे हैं—जो पुरुष कवि (सर्वज्ञ अर्थात् भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान में जो कुछ होता है या हो चुका है वह जो जानता है)। पुराण (पुरातन अर्थात् स्वयं अनादि परन्तु सर्व कारण का भी कारण), अनुशासिता (अन्तर तथा बाह्य सभी वस्तु का शासनकर्ता अर्थात् सभी का नियामक), अणु से अणु (सबसे सूक्ष्मतम), सबके धाता (विधाता अर्थात् सबके स्रष्टा तथा सबके कर्मों का फलदाता), अचिन्त्यरूप (जिसकी अनन्त, अपरिमित महिमा को मलिन मन तथा बुद्धि चिन्तन भी नहीं कर सकते), आदित्यवर्ण आदित्य समान अपने को एवं अन्य सबको प्रकाश करना ही जिसका वर्ण (स्वरूप) है अर्थात् स्वयंप्रकाश व सर्वावभासक तमः से परे (अज्ञानान्धकाररूप प्रकृति या माया से अतीत) है वही दिव्य परमपुरुष है (श्रेष्ठ एवं पूर्ण परमात्मा) जिसको अभ्यासयोग व अनन्यगामी चित्त से (मृत्यु के समय) स्मरण करने से क्रममुक्ति के मार्ग से उत्क्रमण कर (ब्रह्म लोक में तत्त्वज्ञान प्राप्त कर) नदी जैसे समुद्र के साथ मिलकर एक हो जाती है उसप्रकार जीव और ब्रह्म एक हो जाते हैं। ध्येय वस्तु के स्वरूप का ज्ञान न होने पर साधन में रुचि होने की सम्भावना नहीं है और वह ध्येयवस्तु मेरी आत्मा है, इसप्रकार बुद्धि का निश्चय न होने पर ध्येय वस्तु के प्रति निरतिशय प्रेम (जिसको प्रेमा भक्ति कही जाती है वह) होना असम्भव है क्योंकि एकमात्र आत्मा ही सबसे प्रियतम है। सारांश यह है कि—पुण्य कर्मों के द्वारा अहंकार तथा विषय के प्रति सत्यत्व तथा रमणीयत्व बुद्धि नष्ट न होने पर कोई भगवान् का शरणागत नहीं हो सकता। परमात्मा में शरणागति और

साधनभक्ति एक ही बात है। उस परमपुरुष के स्वरूप के ज्ञान के विना (अपरोक्ष ज्ञान के विना) एवं विषय के प्रति उत्तरोत्तर तीव्र वैराग्य के विना भक्ति दृढ़ नहीं होती। इसलिये भगवान् कह रहे हैं—अचलेन मनसा भक्त्या युक्तः—एकमात्र परमात्मा के ही प्रेमपूर्वक निरन्तर स्मरणरूप भक्ति के द्वारा [वह किस प्रकार से सम्भव है ?] मन जबतक अचल न हो अर्थात् विषय का मिथ्यात्व निश्चय कर वैराग्यवान होकर सर्व विषयों से निवृत्त परब्रह्म स्वरूप भगवान में निश्चल (एकाग्र) न हो तबतक भगवान् को सर्वदा स्मरण करना असम्भव है। [इससे यही स्पष्ट हो रहा है कि परोक्ष-ज्ञान (शास्त्र व गुरु से परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान) एवं विषय वैराग्य विना अर्थात् ज्ञान वैराग्य विना निरन्तर स्मरणरूपा प्रेमा भक्ति की सम्भावना नहीं है।] किन्तु केवल ज्ञान व वैराग्य रहने से भी नहीं होगा—इसके साथ अभ्यासरूप योगबल का प्रयोजन है। इसलिये भगवान् कह रहे हैं—योगबलेन च एव-यहाँ योग शब्द का अर्थ है अभ्यासयोग जिसके सम्बन्ध में ८ वें श्लोक में कहा है। मन, प्राण, इन्द्रिय एवं उनकी क्रियाओं के निरोध को योग कहा जाता है कारण वह निरोध ही परमात्मा के साथ युक्त होने का (जीव और ब्रह्म के एकत्वानुभव का) एकमात्र उपाय है। इसलिये पातञ्जल योगदर्शन में कहा है—"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। इसप्रकार योग की पुनः पुनः आवृत्ति को अभ्यासयोग कहते हैं। उक्त अभ्यासयोग के वल से ही परमात्मा में मन की एकाग्रता (निश्चलता) सम्पादन करना तथा उसको निरन्तर स्मरण करना अनायास साध्य होता है एवं मरणकाल उपस्थित होने पर उस अभ्यासयोग के बल से ही किसी प्रकार प्रयत्न के विना भगवान् की स्मृति बनी रहती है। अब प्रश्न होगा कि मन को अचल (स्थिर) करने के अभ्यास के लिये एक स्थान में तो मन को धारण करना पड़ेगा। वह स्थान कौन है एवं उसके लिये शास्त्रसिद्ध प्रक्रिया क्या है ? इसके उत्तर में कहा जा रहा है—भ्रुवोर्मध्ये प्राणम् आवेश्य सम्यक्—भ्रूमध्य में अर्थात् आज्ञा-चक्र में प्राण को प्रविष्ट कर उस परमपुरुष का स्मरण करना होगा। मेरुदण्ड के मध्य में तीन नाड़ियाँ हैं—इड़ा, पिंगला एवं सुषुम्ना। वाम नासिका से जब प्राणवायु बहती है तब जानो इड़ा नाड़ी से वह बह रही है—दक्षिण नासिका से जब बहती है तब जानो पिंगला से वह रही है। सुषुम्ना नाडी से जब प्राणवायु बहती है तब वह स्थिर हो जाती है। अतः योगी लोग सुषुम्ना में प्राणवायु का प्रवेश कराकर उसकी स्थिरता सम्पादन करने के लिये प्रयत्न करते हैं। सुषुम्ना अति सूक्ष्म नाड़ी है—योगी लोग ही इसकी क्रिया जान

सकते हैं—यह मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्र में सहस्रदलपद्म पर्यन्त विस्तृत है। सुषुम्ना के भीतर वज्रिणी, वज्रिणी के भीतर चित्रिणी एवं चित्रिणी के भीतर ब्रह्मनाड़ी है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध एवं आज्ञा—ये छः चक्रों ब्रह्मनाड़ी में पद्म के रूप से ग्रथित हैं। मस्तक के ऊपर सहस्रदलपद्म है। पूर्वोक्त षट्चक्र का भेदन कर प्राणवायु जब सहस्रदल पद्म का भी भेदन कर (परमात्मा के स्वरूप को चिन्तन करते-करते) उत्क्रमण करती है तब वह योगी ब्रह्मलोक में ज्योतिरादि मार्ग से गमन कर वहाँ तत्त्वज्ञान या आत्मसाक्षात्कार प्राप्त होकर मुक्त होता है। निरन्तर अभ्यास से जिस योगी ने भ्रूमध्य में प्राणवायु को सिद्ध कर परमात्मा को निरन्तर स्मरण करने का अभ्यास किया है वह मृत्यु के समय अभ्यास से ही ब्रह्मरन्ध्र (सहस्रार) भेद कर ऊर्ध्वलोक को प्राप्त होता है। इसलिये भ्रूमध्य में प्राणवायु को प्रविष्ट कराकर भगवत्स्मरण का अभ्यास करने का विधान किया है। पहले स्थिर आसन पर बैठकर इसप्रकार ध्यान करना चाहिए कि सुषुम्ना नाड़ी में जो ब्रह्म नाड़ी है वह अति सूक्ष्म एक किरण के समान (सूर्य के उज्ज्वल राशि के समान) है। प्राणवायु को उसके भीतर से आरोहण व अवरोहण कराना पड़ेगा जबतक उसकी चंचलता शान्त होकर स्थिरता न आ जाय। प्राणवायु उस किरणरूपी ब्रह्मनाड़ी को पकड़ कर एक एक चक्र का यथा क्रम से भेदन करके आरोहण कर रही है एवं अन्त में सहस्रदल में स्थित (अथवा सहस्रदल के ऊपर आकाश में स्थित) सर्वव्यापी चैतन्य सत्ता में निमग्न हो गयी, इसप्रकार भावना करनी होगी फिर वही प्राणवायु जब उस सर्वव्यापी सत्ता में दीर्घकाल पर्यन्त स्थिर रहने में असमर्थ होकर पुनः चञ्चल हो जायगी तब फिर प्राणवायु को एक एक चक्र को भेदन कराते हुए मूलाधार पर्यन्त अवरोहण कराकर पुनः सर्वव्यापी चैतन्य सत्ता में निमग्न रखना पड़ेगा। देह, इन्द्रिय एवं बाह्य जागतिक सभी विषय को ब्रह्मनाडो रूप किरण में लय करना पड़ेगा एवं प्राण व अपान वायु जब चलती रहेगी तब एक एक चक्र का जय कर आरोहण एवं अवरोहण क्रम से किरण को ब्रह्म ज्योतिः में लय करना होगा। इसको क्रमशः भूमिजय कहा जाता है। जब इस प्रकार प्राणायाम से प्राणवायु स्थिर हो जायगा तब भ्रूमध्य में (आज्ञा चक्र में) प्राण वायु को प्रविष्ट कराकर निश्चल रूप से स्थितिलाभ करने का अभ्यास करना चाहिए। यह अभ्यास-योग जब परिपक्व होता है तब मृत्युकाल में विना प्रयत्न से (अनायास) प्राणवायु आज्ञाचक्र में स्थित हो जाता है एवं वह भक्तयोगी परमात्मस्वरूप को चिन्तन करते करते तं दिव्यं परं पुरुषम् उपैति—दिव्य (स्वयंप्रकाश)

परम पुरुष को (सर्वात्म परब्रह्म को) प्राप्त होता है अर्थात् देह में अभिमान छोड़कर अर्चिरादि मार्ग से ब्रह्मलोक में गमन कर तत्त्वज्ञान (निर्गुण मायातीत अखण्ड अद्वितीय अपने आत्मस्वरूप परब्रह्म का साक्षात्कार) प्राप्त होता है एवं ब्रह्म का द्विपरार्ध आयुष्काल समाप्त होने के पश्चात् परब्रह्म में लीन होकर मुक्ति प्राप्त करता है।

इन दो श्लोकों में क्रममुक्ति के लिये यथाक्रम किस प्रकार साधन करना पड़ेगा उसे श्रीभगवान ने स्पष्ट किया (१) 'कविं पुराणम्' इत्यादिरूप से सगुण भगवान का स्वरूप पहले शास्त्रों तथा गुरु से संशयरहित होकर जान लेना चाहिए। इसको परोक्ष ज्ञान कहते हैं। (२) परोक्षज्ञान के पश्चात् भगवान् में श्रद्धा व भक्ति होती है। इसलिये कहा भक्त्या युक्तः (अर्थात् भक्तिपूर्वक उपासना करना चाहिए (३) उपासना के साथ साथ मनको विषयों से निवृत्त कर भगवान् में निश्चल (स्थिर) करना चाहिए अर्थात् विषय वैराग्य एवं भगवान् में विशेष रति प्रेमपूर्वक आसक्ति की आवश्यकता है (४) मन को स्थिर करने का उपाय क्या है ? प्राणवायु को सुषुम्ना मार्ग से भ्रूमध्य में स्थापित (धारणा) कर प्राणवृत्ति के निरोध के निरन्तर अभ्यास को योग कहते है। इस प्रकार योग के बल से मन को भगवान् में निश्चल करना पड़ेगा क्योंकि प्राणवायु स्थिर होने पर मन स्वतः ही स्थिर होता है इस प्रकार अभ्यास के फल रूप से मृत्युकाल में भगवान् का ही स्मरण करता हुआ ब्रह्मलोक में गमनकर परब्रह्म के स्वरूपका ज्ञानलाभ करके साधक मुक्त हो जाता है, यह ही तात्पर्यार्थ है। [जिस ब्रह्मतत्त्व को समझने लिए अर्जुन सदा ही इच्छुक है, वेदविद्गण जिनका स्वरूप वर्णन करने में अनेक विशेषणों का प्रयोग करते हैं, उन विशेषणों का जो विशेष्य है उस ब्रह्म के तत्त्व को वक्ष्यमाण उपाय के द्वारा अर्थात् प्रणवरूप अभिधान (नाम) के द्वारा भगवान् पुनः प्रतिपादन कर रहे हैं। तात्पर्य यह है कि मृत्यु के समय परमात्मा का स्मरण करके परमगति प्राप्त होने के लिये जीवितावस्था में सर्वदा ही भगवान् का स्मरण करना चाहिए, यह पहले कहा गया है। अब ऐसा सोचा जा सकता है कि भगवान् का अनुस्मरण किसी भी अभिधान (नाम) के द्वारा अर्थात् नामरूप मन्त्र के द्वारा हो सकता है। किन्तु श्रुति में कहा है 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमीत्योमित्येतत्' (क० उ० १।२।१५) अर्थात् सभी वेदवाक्य जिस पद का निरूपण करते हैं, समस्त तप जिसकी प्राप्ति बतलाते हैं एवं जिस पद को

प्राप्ति की इच्छा करके लोग ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं मैं तुम्हारे प्रति संक्षेप में 'उस पद का वर्णन करता हूँ, वह है 'ओम्'। वर्तमान श्लोक में भी उस श्रुति वचन की ही प्रतिध्वनि है। अतः श्रुति के प्रमाण तथा वेदविदों के सिद्धान्त के अनुसार प्रणवरूप अभिधान (अर्थात् परमेश्वर का वाचक या नाम) के द्वारा ही भगवान् का अनुस्मरण करना कर्तव्य है, (क्योंकि सर्वशास्त्र में ॐ कार का ही प्राधान्य दिया गया है) ऐसा नियम या व्यवस्था निर्देश करने के लिए अब श्रीभगवान् कह रहे हैं—]

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद् यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥

अन्वय—वेदविदः यत् अक्षरं वदन्ति वीतरागाः यतयः यत् विशन्ति, यत् इच्छन्तः ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत् पदं ते संग्रहेण प्रवक्ष्ये।

अनुवाद—वेदविद्गण जिसको अक्षर (अविनाशी) कहते हैं, वीतराग (विषयों में स्पृहाशून्य) संन्यासिगण जिस पद में प्रवेश करते हैं, जिसकी प्राप्ति की इच्छा करने वाले ब्रह्मचारिगण ब्रह्मचर्य व्रत का अनुष्ठान करते हैं, मैं संक्षेप से तुम्हें उस पद या प्राप्तव्य वस्तु के सम्बन्ध में (अर्थात् उस ब्रह्मपद के सम्बन्ध में) प्रकृष्ट उपदेश प्रदान कर रहा हूँ।

भाष्यदीपिका—वेदविदः—वेद का अर्थ जो लोग जानते हैं वे यत् जिन्हें अक्षरं वदन्ति—अक्षरब्रह्म कहते हैं। जिसका क्षरण या ध्वंस नहीं है वह अक्षर (अविनाशी) है। वेदविद्गण ब्रह्म को अविनाशी ॐ काररूप ब्रह्म कहकर निर्देश करते हैं एवं 'वह न स्थूल है न सूक्ष्म है' इस प्रकार सब विशेषों का निराकरण करके वर्णन किया करते हैं। श्रुति में भी कहा है 'एतद्वैतदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' (बृह० उ० ३।८।८) अर्थात् हे गार्गि! यही वह अक्षर है जिन्हें ब्रह्मविद्गण अस्थूल, अनणु, अह्रस्व, अदीर्घ कहते हैं।' [ब्रह्म किसी वाणी या इन्द्रिय का विषय नहीं है। केवल प्रमाण-कुशलोंने ही सभी प्रकार के भेदविनिर्मुक्त ब्रह्म के स्वरूप को 'वह स्थूल नहीं है,' 'ह्रस्व नहीं है' इत्यादि के रूप से प्रतिपादन किया हो। ऐसी बात नहीं है अपितु उस अक्षरब्रह्म मुक्तपुरुषों का प्राप्य होने के कारण (ब्र० सू०) मुक्तपुरुषोंने भी उसका अनुभव किया है (मधुसूदन, आनन्दगिरि)। इसीलिए भगवान् कह रहे हैं—]

वीतरागाः—जिनके हृदय से विषय के प्रति राग (स्पृहा) निवृत्त (नष्ट) हुआ है, ऐसे यतयः—यत्नशील संन्यासिगण (सम्यग ज्ञान

प्राप्ति के बाद) यत्—जिस अक्षर ब्रह्ममें विशन्ति—प्रवेश करते हैं अर्थात् अपने स्वरूप के रूप से उनके साथ ऐक्य लाभ करते हैं [केवल सिद्ध यतिलोग उनको एकात्मरूप से अनुभव करते हैं, वह बात नहीं, सभी साधकों का भी समस्त प्रयत्न उसके लिए ही हैं। यही अब कह रहे हैं] यत्—जिस अक्षर ब्रह्मको इच्छन्तः—जानने के लिए इच्छुक होकर नैष्ठिक ब्रह्मचारिगण ब्रह्मचर्यं—गुरुगृह में वास, ब्रह्मचर्य प्रभृति तप चरन्ति—यावज्जीवन आचरण (अर्थात् पालन करते हैं तत्पदं—उस अक्षर नामक पद (पद—चरमगन्तव्य स्थान) ते—तुम्हें संग्रहेण—संक्षेप से प्रवक्ष्ये—प्रकृष्टरूप से कह रहा हूँ ताकि इस सम्बन्ध में तुम्हारा स्पष्ट बोध हो। अभिप्राय यह है कि उस परमपद की प्राप्ति का उपाय क्या है ? वह मैं तुम्हें स्पष्ट रूप से कह रहा हूँ (श्रीधर), जिससे वह तुम्हारी समझ में आ जाय। अतः 'यह दुर्बोध अक्षर तत्त्व मैं कैसे जानूँगा ऐसा सोचकर व्याकुल मत होओ, यही कहने का अभिप्राय है।

[श्रुति में कहा गया है—"यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्यनेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायति स तमधिगच्छति (प्र० उ० ५।५) अर्थात् जो व्यक्ति तीन मात्रावाले "ॐ" इस अक्षर के द्वारा परमपुरुष का ध्यान करता है वह उसे प्राप्त होता है। इन वचनों के द्वारा मन्दबुद्धि तथा मध्यमबुद्धि वाले के लिये क्रममुक्ति प्राप्ति के लिए जो ॐकार की उपासना वेद में विहित है वही यहाँ भगवान् के कहने का अभिप्राय है। अर्थात् जिस प्रकार विष्णु आदि का प्रतीक अवलम्बन कर सगुणोपासना का विधान है उसप्रकार वर्तमान श्लोक में अक्षर ॐ इस शब्द को ब्रह्म का वाचक अथवा प्रतिमा के रूप से ग्रहण कर उपासना करने का उपदेश श्रीभगवान् दे रहे हैं। इस कारण से इस अध्याय के अन्त तक योगधारणा के साथ ॐकार की उपासना, उस उपासना का फल, भगवान् के अपने स्वरूप का ज्ञान, भगवत्स्वरूप की प्राप्ति होने से अपुनरावृत्ति (संसार में पुनः प्रत्यावर्तन न करना) एवं क्रममुक्ति का मार्ग इन सब विषयों का वर्णन किया गया है, (मधुसूदन)। ॐकार को सगुण ब्रह्म का प्रतीक मानकर उपासना करने का फल है ब्रह्मलोक प्राप्ति। जिनकी भोगवासना रहती है उनकी ब्रह्मलोक की प्राप्ति के बाद भी संसार में पुनरावृत्ति होती है और जो लोग भोगवासनारहित होते हैं वे लोग ब्रह्मलोक में निर्विशेष ब्रह्म का साक्षात्कार कर मुक्तिलाभ करते हैं उनको संसार में प्रत्यावर्त्तन नहीं करना पड़ता—ये भी इस अष्टमाध्याय के अन्त में वर्णित होंगे]

टिप्पणी (१) श्रीधर—केवल अभ्यासयोग द्वारा भी प्रणव को

आश्रय कर अभ्यास किया जाय तो वह अभ्यास अन्तरंग साधन होता है। अतः भगवान् इसका विधान करने की इच्छा से प्रतिज्ञा करते हैं यदक्षरं वेदविदः वदन्ति—श्रुति में कहा है—'एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः' (बृह० उ० ३।८।९) अर्थात् हे गार्गि ! इस अक्षर के ही प्रशासन में सूर्य और चन्द्रमा विधृत होकर (धारण किये हुए) स्थित हैं' इस श्रुति के अनुसार वेदान्त को जाननेवाले पुरुषगण जिसको अक्षर कहते हैं वीतरागाः यतयः यत् विशन्ति—जिनकी राग (आसक्ति) वीत (नष्ट हो) चुकी है वे वीतराग यति (प्रयत्नशील साधक) जिसमें प्रविष्ट होते हैं और यत् इच्छन्तः ब्रह्मचर्यं चरन्ति—जिसको जानने की इच्छा करनेवाले ब्रह्मचारी गुरुकुल में ब्रह्मचर्य का आचरण (पालन) करते हैं, तत् पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये—वह पद [पद्यते (गम्यते) इति पदम् अर्थात् जो प्राप्त किया जाय उसको पद कहा जाता है अर्थात् प्राप्त करने योग्य तत्त्व] तुमको संक्षेप से प्रकृष्टरूप से कहूँगा अर्थात् उसकी प्राप्ति का उपाय संक्षेप से भलीभाँति कहूँगा जिससे तुम समझ सको।

(२) शंकरानन्द—मुमुक्षु यतियों के लिये सद्गुरु के समीप में जाकर जो निर्विशेष परब्रह्म ज्ञातव्य है, उसकी भगवान् प्रशंसा करते हैं जिससे मुमुक्षुओं की तीव्र मोक्षेच्छा उत्पन्न होकर उनकी (मोक्ष के लिये) प्रवृत्ति की सिद्धि हो। समस्त वेद अपने अपने उपनिषदों के द्वारा ब्रह्म का ही प्रतिपादन करते हैं—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' ('यह एक आत्मा ही पहले था'), 'सर्वं तत् प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञानं ब्रह्म' (यह सम्पूर्ण प्रज्ञानेत्र प्रज्ञान ब्रह्म है), 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (ब्रह्म सत्य ज्ञान एवं अनन्त स्वरूप है), 'सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्' ('सत्य ही सत्य एवं अनृत हुआ') 'स यश्चायं पुरुषः' (वह जो यह पुरुष), 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' (ईश्वर के द्वारा ये सभी ही आच्छादित हैं), 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ), 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (हे सोम्य ! पहले यह सत् ही था), 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं' (ये सभी इसका स्वरूप है), 'तत्त्वमसि' (तुम वही हो), 'सर्वं ह्येतत् ब्रह्म' (सभी यह ब्रह्म है), 'अयमात्मा ब्रह्म' ('यह आत्मा ब्रह्म है') इन सब वाक्यों के द्वारा समस्त वेदों के तात्पर्य के विषयभूत अर्थ परब्रह्म ही है, यह प्रमाणित होता है। उसके द्वारा वेदविदः—वेदविद्गण अर्थात् वेद का अर्थ जो लोग जानते हैं (वेद का अर्थ अर्थात् तात्पर्य उक्त लक्षण युक्त परब्रह्म में परिसमाप्त होता है अतः उनको साक्षात् अपने स्वरूप से (अपने से अभिन्नरूप से) जो जानते हैं वे ही वेदविद् हैं।) इस प्रकार ब्रह्मवित् याज्ञवल्क्य आदि यत् अक्षरं—

जिस अक्षर को [जो ज्ञान अज्ञान आदि को नाश करता है एवं उसके (अज्ञान के) साधनों के द्वारा नष्ट नहीं होता है वह अक्षर है अर्थात् नित्य, कूटस्थ, असंग, चिदेकरस, अद्वितीय परब्रह्म का ज्ञान] 'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ! ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वम्' ('हे गार्गि ! निश्चय इस अक्षर को ब्राह्मण अस्थूल, अनणु, अह्रस्व कहते हैं') इस श्रुति में जैसा कहा गया है उस रीति से अशेष विशेष का अपवाद कर निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, अनन्त ब्रह्म के सम्बन्ध में शिष्यों के प्रति वदन्ति—कहते हैं अर्थात् उपदेश करते हैं। वीतरागाः—वीतराग अर्थात् जिनके राग आदि दोष निःशेष विनष्ट हो गये हैं, ऐसे ज्ञानसम्पन्न यतयः—यतिगण ['संप्राप्येनमृषयो ज्ञानतृप्ताः' ('इसको प्राप्त होकर ऋषि ज्ञानतृप्त होते हैं') इस श्रुति में कहे हुए नियम से] यत्—जो परब्रह्म में विशन्ति—प्रवेश करते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं, यत्—जो परब्रह्म को गुरु से जानने की इच्छन्तः—इच्छा कर सन्त तथा महान् ब्राह्मणगण 'भूय एवं तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ' फिर भी तप के साथ, ब्रह्मचर्य के साथ एवं श्रद्धा के साथ एक वर्ष तक वास करो) इस प्रकार श्रुति में उक्त रीति के द्वारा गुरु के समीप में ब्रह्मचर्यं चरन्ति—ब्रह्मचर्य पालन करते हैं। [दृष्ट एवं अदृष्ट विषय सुख से विमुख होकर आहार आदि के नियम के द्वारा, स्वधर्म के द्वारा, श्रद्धा के द्वारा एवं भक्ति के द्वारा सद्गुरु के समीप (निकट) वेदान्त श्रवण का नाम ही ब्रह्मचर्य है। उस ब्रह्मचर्य का जिसकी प्राप्ति की इच्छा से ब्रह्मचारी लोग पालन करते हैं] तत्—उस अक्षर नामक पदं—पद को (ज्ञान के द्वारा जो प्राप्त किया जाता है वह पद है अर्थात् परब्रह्म है, इसको) ते—तुमको संग्रहेण प्रवक्ष्ये—संक्षेप में प्रकृष्टरूप से (भलीभाँति) कहूँगा। 'परस्तस्मात्तु भावोऽन्यः' अर्थात् प्रकृति से परे (विलक्षण) अन्य जो परब्रह्मभाव (सत्ता) है उसको सम्यक्रूप से कहूँगा, यही अर्थ है।

(३) नारायणी टीका—पूर्वश्लोक में 'कविं पुराणम्' इत्यादि कहकर जिस परब्रह्म का स्वरूप बताया गया वह तो अचिन्तनीय होने के कारण सर्व इन्द्रियों को तथा मन बुद्धि को अगोचर (अविषय) है। किसी वस्तु का ध्यान तो उसकी मूर्ति का अवलम्बन करके ही सम्भव है। अतः जब परमतत्त्व का कोई विशेष रूप (मूर्ति) नहीं है तो उसका नाम ही ध्यान का सहायक होकर उसके स्वरूप में पहुंचा दे सकता है। क्योंकि नाम और नामी में कोई भेद नहीं है। इसे स्पष्टरूप से समझाने के लिये भगवान कह रहे हैं—ॐकार (प्रणव) ही भगवान का सबसे प्रसिद्ध नाम है। यही सर्वश्रेष्ठ मन्त्र है क्योंकि इस

चतुष्पाद मन्त्र का (अ, उ, म एवं इन तिनों से विलक्षण तुरीय का) मनन करने से मनुष्य परमब्रह्म का पद प्राप्त कर संसार दुःख से त्राणलाभ कर सकता है। [मननात् त्रायते—इति मन्त्रः।] सर्ववेद इस ॐकार का ही व्याख्यान है। जो वेद का अर्थ (तात्पर्य) जानते हैं वे वेदज्ञ सभी पुरुष ॐ को ही अक्षर (अविनाशी) ब्रह्म कहते हैं। [माण्डूक्य श्रुति में भी ऐसा ही कहा है—'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्। सर्वं ह्येतद्ब्रह्म। अयमात्मा ब्रह्म' अर्थात् 'ओम्' वह अक्षर ही सब कुछ है। सब ब्रह्म ही है और वह ब्रह्म ही यह आत्मा है।]

केवल वेदज्ञ प्रमाणकुशल (विचारवान्) महात्मालोग ही ॐ को ब्रह्मरूप से मानते हैं ऐसा नहीं है—जो सब यतिगण वीतराग (रागद्वेषादि शून्य होकर) चित्तशुद्धि द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्त हुए हैं वे (नदियाँ जिस प्रकार समुद्र में प्रवेशकर समुद्र ही हो जाती हैं उस प्रकार ॐकार नामक अक्षर (नित्य सत्य अविनाशी) ब्रह्म में प्रवेश कर (एकत्वानुभव करके) ब्रह्म ही हो जाते हैं। फिर जो लोग आरुरुक्षु हैं (अर्थात् साधक हैं) वे भी ॐकार जिसका वाचक (नाम) है उस अक्षरब्रह्म को प्राप्त करने के लिये गुरुगृह में रहकर ब्रह्मचर्यव्रत पालन करते हैं। इस प्रकार ॐकाररूप परमब्रह्म के सम्बन्ध में भगवान ने संग्रहकर अर्थात् संक्षेप से परन्तु सुस्पष्टरूप से कहने की प्रतिज्ञा की। ॐकारतत्त्व अतिदुर्ज्ञेय (अर्थात् इसकी धारणा करना बहुत ही कठिन है इसलिये भगवान ने कहा—प्रवक्ष्ये अर्थात् भलीभाँति कहूँगा जिससे तुम अनायास इस तत्त्व को समझ सकोगे, यही कहने का अभिप्राय है।

[अब 'मैं तुम्हें उस पद के (ब्रह्मस्वरूप के) विषय में तथा उसको प्राप्त करने का उपाय संक्षेप में स्पष्टरूप से कह रहा हूँ' इत्यादि जो भगवान ने कहा वही अंग तथा उपांग के साथ १२ वें तथा १३ वें श्लोक में स्पष्ट कर रहे हैं—]

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥ १२ ॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ १३ ॥

अन्वय—सर्वद्वाराणि संयम्य मनः हृदि निरुध्य आत्मनः प्राणं मूर्ध्नि आधाय च योगधारणाम् आस्थितः (सन्) ॐ इति एकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् (तथा) माम् अनुस्मरन् देहं त्यजन् यः प्रयाति स परमां गतिं याति।

अनुवाद-सभी इन्द्रियों के द्वार को संयत (रुद्ध) कर हृदयपुंडरीक में मन को निरुद्ध कर अर्थात् मन को सर्वप्रकार के विक्षेप से रहित कर [हृदय से ऊर्ध्वगामिनी नाड़ी के (सुषुम्ना के) भीतर से ऊर्ध्वमूर्ध्वादेश में अपने प्राण को रखकर योगधारणा में आरूढ़ होकर जो व्यक्ति ॐ यह एक अक्षर रूप ब्रह्म उच्चारणपूर्वक मेरा स्मरण करते हुए देह का त्याग कर (उत्तरायण पथ में) गमन करता है वह परमागति को प्राप्त करता है।

भाष्यदीपिका—सर्वद्वाराणि-समस्त द्वारों को अर्थात् विषय उपलब्ध करने के उपायस्वरूप समस्त इन्द्रिय—द्वारों को संयम्य—प्रत्याहार के द्वारा संयत कर अर्थात् उनके विषय में प्रवृत्त होने पर भी विषय में पुनः पुनः दोष-दर्शन करके श्रोत्रादि इन्द्रियों को अपने अपने विषयों से विमुख कर अर्थात् उनके द्वारा शब्दादि ग्रहण न करते हुए। [किन्तु बाह्य इन्द्रियों का संयम करने से भी मन तो विषय की ओर धावित हो सकता है इसलिए कह रहे हैं—]

मनः हृदि निरुध्य च—(षष्ठाध्याय के १५ वें श्लोक में जो अभ्यास तथा वैराग्य के सम्बन्ध में कहा गया है, उनके द्वारा) मन को हृदयपुण्डरीक में (हृदयकमल में) निरुद्ध कर (निष्प्रचार कर) अर्थात् मन की विषयाकारा-वृत्तियों को इस प्रकार से निरोध करके (संकल्प-विकल्प से रहित करके) इस प्रकार से बाहर और भीतर की उपलब्धि के समस्त द्वारों को (श्रोत्रादि बहिरिन्द्रिय तथा अन्तरिन्द्रिय मन को) सम्यकूरूप से निरुद्ध होने पर सभी क्रियाशक्ति के द्वारस्वरूप जो प्राण है उसे भी सर्वतोरूप से (सब ओर से) संयत (निगृहीत) करना पड़ेगा क्योंकि प्राण की चंचलता रहने पर मन की चंचलता रहेगी एवं मन की चंचलता रहने पर इन्द्रियाँ बाह्य विषयाभिमुखी होंगी। इसलिए कह रहे हैं ऐसे वशीकृत मन के द्वारा—आत्मनः प्राणं मूर्ध्नि आधाय—आत्मनः अर्थात् अपने प्राण को मूर्धादेश में (मस्तक में) स्थापन कर [अर्थात् गुरूपदिष्ट मार्ग के अनुसार भूमिजय-क्रम से प्राण को भ्रूकुटिओं के मध्य में एवं उसके ऊपर (मस्तक में) धारण कर। कहने का अभिप्राय यह है कि श्रोत्रादि सभी उपलब्धि द्वारों को निरोध करने के बाद प्राणवायु को भी सभी ओर से हृदय में लाकर] हृदय से ऊर्ध्वगामिनी (ऊपर जानेवाली) सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा प्राण को क्रमशः ऊर्ध्व में उठाकर पहले कण्ठ में (विशुद्धचक्र में) तत्पश्चात् आज्ञाचक्र में एवं अतः पर उसके भी ऊपर मस्तक में (सहस्रार में) स्थापन करके योगधारणामास्थितः—समाधिरूप धारणा में प्रवृत्त होकर (आस्थितः)।

[मधुसूदन सरस्वती ने 'आत्मनः' शब्द का योगधारणाम् शब्द के साथ सम्बन्ध रखकर व्याख्या की है। आत्मनः—योगधारणाम् आत्मविषयक योग समाधिरूप धारणा में स्थित हो (अन्यदेवताविषयक धारणा न किया जाय किन्तु केवल आत्मा के विषय में ही धारणा करनी होगी, ऐसा अर्थ समझाने के लिए ही 'आत्मनः' पद का प्रयोग किया गया है।)] [योगधारणाम्—समाधिरूप धारणा में। आस्थितः—आ (समन्तात् स्थितः) अर्थात् आरूढ़ होकर (आनन्दगिरि) योगधारणाम् आस्थितः—योग की धारणा का चित्त वृत्ति ॐ इति एकाक्षरं ब्रह्म—निरोधरूप स्थिरता का आश्रय लेकर श्रीधर ॐ यह एक अक्षर रूप ब्रह्म का अर्थात् ब्रह्म के अभिधानभूत ब्रह्म के स्वरूप का लक्ष्य कराने वाला वाचक या नाम रूप ॐकार को व्याहरन्—उच्चारण करते हुए (तथा) माम् अनुस्मरन्—उस ॐकार के अर्थभूत अर्थात् वाच्य एक अद्वितीय अक्षर (अविनाशी) सर्वव्यापक मुझ ईश्वर का गुरु के द्वारा उपदिष्ट उपाय से चिन्तन करता हुआ देहं त्यजन्—(प्रणव जप करते करते एवं उस प्रणव का अभिधेय अर्थात् वाच्य मुझ ईश्वर (परमात्मा) को चिन्तन करता हुआ मूर्द्धन्य नाडी के पथ से (अर्थात् सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग से उत्क्रमण कर शरीर त्याग कर यः प्रयाति—जो प्रयाण करता है (शरीर को छोडकर जाता है अर्थात् मरता है)। [यहाँ 'त्यजन् देहम्' यह विशेषण 'मरण' को लक्ष्य कराने के लिये है अर्थात् देह के त्याग से ही आत्मा का मरण सूचित कर रहा है–आत्मा के स्वरूप का नाश होता है यह कहने का अभिप्राय नहीं है। देह के साथ सम्बन्ध के नाशको आत्मा का प्रयाण या मृत्यु कहा गया है किन्तु उससे आत्मा के स्वरूप का विनाश नहीं समझा जा रहा है क्योंकि आत्मा अविनाशी है। श्रुति में भी इसलिए कहा गया है।

'अनुच्छित्तिधर्मा ह्येष आत्मा' (बृह० उ०) अर्थात् इस आत्मा का कभी भी उच्छेद विनाश नहीं है] सः—वह परमां गतिं याति—परम अर्थात् प्रकृष्ट गति (क्रममुक्ति) को प्राप्त होता है अर्थात् वह देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक को प्राप्त होकर उस लोक का भोग समाप्त होने पर मेरी स्वरूपता प्राप्ति या मोक्षरूप जो प्रकृष्ट गति (जीवात्मा तथा परमात्मा की ऐक्यरूप चरम अवस्था) है उसे प्राप्त होता है।

ॐ जो एक अक्षर है यह ब्रह्म का वाचक है अथवा प्रतिमादि के समान ब्रह्म का प्रतीक है। अतः ॐ इस शब्द को ब्रह्म कहा जाता है। 'ओम्' इस शब्द को उच्चारण करोगे' ऐसा कहने से ही जब विषय स्पष्ट हो सकता था तब 'ओम् इति' एकाक्षर पद का व्यवहार करने का अभिप्राय क्या है?

मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि ऐसा कहने का अभिप्राय यह है कि ॐ शब्द एक अक्षर मात्र है, अनेक पदविशिष्ट क्या नहीं है, अतः मृत्युकाल में भी इसका उच्चारण अनायास ही किया जा सकता है अर्थात् मृत्यु के समय में इन्द्रियाँ व्याकुल रहने के कारण अनेक पदात्मक वाक्य उच्चारण करना अति कष्टसाध्य है किन्तु 'ओम्' एक अक्षर मात्र होने के कारण इसे उच्चारण करने में कोई कष्ट नहीं होता है किन्तु यह परम पद को प्राप्त करा देता है इस प्रकार ॐकार की स्तुति या प्रशंसा की गयी। अथवा 'ओम्' इति व्याहरण एकाक्षरं ब्रह्म माम् अनुस्मरण' ऐसा अन्वय करके भी अर्थ किया जा सकता है अर्थात् 'ओम्' यह शब्द उच्चारण करते हुए एवं 'ओम्' इस शब्द के अर्थभूत या वाच्य एकाक्षर [एक (अद्वितीय) अक्षर (अविनाशी)] सर्वव्यापक ब्रह्मरूप मुझे स्मरण करते हुए जो देह का त्याग कर प्रयाण करता है वह देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक प्राप्त होकर उस लोक का भोग समाप्त होने पर परमगति को अर्थात् मेरी भगवद्रूपता को प्राप्त होता है।

[प्रश्न—उपनिषद् में सत्यकामने पिप्पलाद मुनि को प्रश्न किया 'भगवान् मनुष्यों में जो व्यक्ति मरणकाल तक ॐकार का ध्यान करता है वह किस लोक को जय कर सकता है ? इसके उत्तर में पिप्पलाद मुनि ने कहा 'हे सत्यकाम ! यह जो ॐकार है यही पर तथा अपर ब्रह्म है। ऐसा उपक्रम कर अतः पर कहा 'जो व्यक्ति किन्तु त्रिमात्र ॐ इस अक्षर के द्वारा परमपुरुष का ध्यान करते हैं वे उन्हें प्राप्त करते हैं'। प्रश्नोपनिषद् में ॐकार को ब्रह्म के प्रतीक के रूप में चिन्तन करने का उपदेश दिया गया है। ॐकार अ, उ, म—इस प्रकार मात्रात्रयात्मक है इस प्रकार जो लोग इन मात्रात्रयों में एक एक को पृथगरूप से ब्रह्म की प्रतीकरूप में उपासना करते हैं, वे लोग यथाक्रम एकमात्रा (अ) की उपासना के द्वारा पृथ्वी में (मनुष्यलोक में) विभूतिसम्पन्न होते हैं, दो मात्रा (अ + उ) की उपासना के द्वारा चन्द्रलोक में विभूतिसम्पन्न होकर अतः पर पृथ्वी में प्रत्यावर्तन करते हैं किन्तु त्रिमात्रा ॐकार की जो उपासना करते हैं वे सूर्य लोक में सम्पन्न होकर सभी पापों से मुक्त होते हैं एवं तत् पश्चात् ब्रह्मलोक में कोई दिव्य पुरुष उनको ले जाते है एवं वहाँ तत्त्वज्ञान प्राप्त कर (निरुपाधिक ब्रह्म का साक्षात्कार कर) मुक्ति प्राप्त करते हैं। ऐसी मुक्ति को क्रममुक्ति कहा जाता है] पुनः श्रुति के दूसरे स्थल में जो धर्म से विलक्षण है और अधर्म से भी विलक्षण है (क० उ०) इस प्रकार उपक्रम (आरम्भ) कर बाद में कहा गया है 'सभी वेद जिस पद को प्रकाश करते हैं, सभी तप (चित्तशुद्धि उत्पन्न कर) जिसके स्वरूप का

प्रतिपादन करते हैं जिसकी प्राप्ति की इच्छा कर ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान करता है, उस पद को संक्षेप में मैं तुम्हें कह रहा हूँ। ॐकार ही वह पद है'। इन वचनों के द्वारा यही प्रमाणित होता है कि ॐकार परब्रह्म का वाचक है एवं प्रतिमादि के समान ॐकार परब्रह्म की प्राप्ति का साधन है एवं उनके प्रतीक के रूप से उपास्य है। यद्यपि विशिष्टाधिकारी के लिए उपासनादिरूप क्रिया का आश्रय न लेकर ही केवलमात्र उपनिषदादिके 'तत्त्वमस्यादि' तुम ही वह हो इत्यादि महावाक्य के श्रवण तथा मनन के द्वारा ही परब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त हो सकता है किन्तु जो लोग मन्दबुद्धि अथवा मध्यमबुद्धि वाले हैं उन लोगों को इस प्रकार ब्रह्मदृष्टि से ॐकार की उपासना श्रुति में उपदिष्ट हुई है क्योंकि ऐसी उपासना कालान्तर में क्रममुक्तिरूप फल प्रदान करती है। श्रुति में जो कहा गया है वह इस गीताशास्त्र में भी कहा गया है। पहले कवि पुराण तथा अनुशासिता' 'वेदविद्गण जो अक्षर के सम्बन्ध में उपदेश देते हैं' इत्यादि वाक्य में जो उपास्य परब्रह्म का उपन्यास (प्रारम्भ) किया गया है (क) उस ब्रह्म की प्रतिपत्ति (साक्षात्कार का) साधन ॐकार को ही पूर्वोक्तरूप में (अर्थात् वाचक तथा प्रतीकरूप में) ग्रहण करना चाहिए (ख) उस ॐकार की साधना कालान्तर में मुक्तिरूप फल प्रदान करती है (ग) अतः इस ॐकार की उपासना योग तथा धारणा के साथ करना चाहिए एवं (घ) इस सम्बन्ध में प्रसक्तानुप्रसक्त अर्थात् ॐकार की उपासना (प्रसक्त) एवं उसका फल (क्रममुक्ति) एवं अपुनरावृत्ति इत्यादि अनुप्रसक्तके सम्बन्ध में कहने के उद्देश्य से उत्तर ग्रन्थ का अर्थात् अष्टमाध्याय का प्रारम्भ किया गया है। तात्पर्य यह है कि श्रुति में मध्यमबुद्धि वाले व्यक्तियों के क्रममुक्ति प्राप्ति के लिए जैसी ॐकार की उपासना विहित है (कठोपनिषद् द्रष्टव्य) गीता में भी ॐकार को सगुण ब्रह्म के रूप से एवं विष्णु देवता के प्रतिमादि के समान ॐकार को ब्रह्म के प्रतीक के रूप से उपासना का उपदेश श्रीभगवान् इस अध्याय में कर रहे हैं। इस कारण से इस अध्याय के अन्त तक योग तथा धारणा के साथ ॐकार की उपासना ॐकार की उपासना का फल क्रममुक्ति का मार्ग, भगवत्स्वरूप प्राप्त होने पर अपुनरावृत्ति (अर्थात् संसार में लौट के नहीं आना) इत्यादि वर्णित हैं। ॐकार को सगुण ब्रह्म का प्रतीक मानकर उपासना का फल है ब्रह्मलोक की प्राप्ति। जिनकी भोगवासनाये रहती हैं उनकी ब्रह्मलोक प्राप्ति के बाद भी संसार में पुनरावृत्ति होती है (गीता ६।४१-४२) और जो लोग भोगवासनारहित होते हैं ब्रह्मलोकमें लोग निर्विशेष ब्रह्म का साक्षात्कार कर मुक्ति लाभ करते हैं वे और संसार में लौटते नहीं। ये भी इस अध्याय के अन्त में वर्णित होंगे।

टिप्पणी (१) श्रीधर—(श्लोक १२) श्रीभगवान्ने पूर्व श्लोक में कहा कि परमात्मा के परमपद की प्राप्ति का उपाय तुमको संक्षेप से बताऊँगा इस प्रकार प्रतिज्ञा किये हुए उपाय को अंगसहित अब दो श्लोकों से बताते हैं- **सर्वद्वाराणि संयम्य**—समस्त इन्द्रियों के द्वारा बाह्य विषय को ग्रहण न करते हुए **मनः हृदि निरुद्ध्य च**—मन को भी हृदय में निरुद्ध करके अर्थात् बाह्य विषयों का स्मरण न करते हुए (**आत्मनः**) **प्राणम् मूर्ध्नि आधाय**—(अपने) प्राणों को मस्तक में अर्थात् भ्रुकुटी के मध्य में स्थापित कर **योगधारणां**—योग की धारणा अर्थात् स्थैर्य का **आस्थितः**—आश्रय ले अर्थात् योग से निष्पन्न हुई स्थिरता में स्थित हो।

(श्लोक १३)—ॐ ऐसा जो एक अक्षर है वही ब्रह्म का वाचक (नाम) होने के कारण अथवा प्रतिमा आदि के समान ब्रह्मका प्रतीक होने के कारण ब्रह्म है। उस ॐ का व्याहरण (उच्चारण) करते हुए और उसके वाच्यस्वरूप मुझ परमेश्वर का सर्वदा चिन्तन (स्मरण) करते हुए जो देहत्याग करता है वह अर्चि आदि मार्ग से प्रकृष्टरूप से (ब्रह्मलोक में) जाकर परम श्रेष्ठगति अर्थात् मेरी स्वरूपता प्राप्तिरूप गति को प्राप्त होता है।

(२) शंकरानन्द—१२ श्लोक—'स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' (वह उस दिव्य पर पुरुष को प्राप्त होता है) इसप्रकार योगी की जो प्राप्तव्य वस्तु (स्वयंप्रकाश) परब्रह्म है उसके वर्णन के प्रसङ्गक्रम से प्राप्त हुई ज्ञानी के प्राप्तव्य वस्तु को सामान्य रूप से वर्णन कर प्रकृत योगी का प्रयाण किस प्रकार होता है वह प्रतिपादन कर रहे हैं—

सर्वद्वाराणि—समस्त द्वारों को अर्थात् नासिका, नेत्र, श्रोत्र, मुख, अधोबिल (मलत्यागेन्द्रिय) एवं लिङ्ग इन वायु के निर्गमन के द्वारों का **संयम्य**—संयम कर, योगबल के द्वारा निरोध करके आन्तर-बाह्य व्यापार में व्यापृत रहना ही जिसका स्वभाव है इसप्रकार **मनः च हृदि निरुद्ध्य**—मन को हृदय में निरुद्ध कर समस्त अंगो के प्राणवायु को भी आकृष्ट कर हृदय में लाकर उसको सुषुम्ना के साथ युक्तकर (तत् पश्चात् ऊपर में उठाकर क्रमशः) विशुद्ध चक्र, अनाहत चक्र एवं आज्ञाचक्र को उल्लंघन कर **प्राणं मूर्ध्नि**—प्राण को मूर्धा में द्वादशान्त एवं षोडशान्त—ब्रह्मरन्ध्र में **आधाय**—धारण करके **योगधारणाम्**—योगधारणा में (योगप्रक्रिया में) अर्थात् उत्क्रमण गति में **आस्थितः**—आस्थित होकर (सर्वतो भाव से स्थित होकर) योगी—
१३ श्लोक—[**ओम् इति एकाक्षरं ब्रह्म**—एक है तथा अक्षर (अविनाशी) भी है इसलिए 'ओम्' एकाक्षर है वह ब्रह्म का वाचक होने के कारण उसको

ब्रह्म कहा जाता है।] एकाक्षर एवं त्रिमात्रक ओम् अर्थात् प्रणव का दीर्घ घण्टा-नाद के समान व्याहरम्—'ओम्' इसप्रकार स्पष्ट उच्चारण पूर्वक जो उसको अर्थभूत कवि, पुराण आदि उक्त लक्षणसम्पन्न माम्—मुझको अर्थात् परमेश्वर को अनुस्मरन्—अनुस्मरण करता हुआ अर्थात् मन में ध्यान करता हुआ शीर्षकपाल का भेदन कर स्थूल देहम्— देह को यहाँ त्यजन्—त्याग कर यः—जो सूक्ष्म शरीर से प्रयाति—प्रयाण करता है अर्थात् पूर्वोक्त क्रम से भूमि आदि को भेदन कर जो योगी जाता है सः—वह (क्रम से) परमां गतिम्—परमगति को कैवल्य पद को याति—प्राप्त होता है अर्थात् विदेह मुक्ति को प्राप्त होता है, यही अर्थ है।

(३) नारायणी टीका—पूर्व श्लोक में भगवान ने जो ब्रह्मपद के सम्बन्ध में कहने के लिये प्रतिज्ञा की उस ब्रह्मपद की प्राप्ति का उपाय किस प्रकार है वह कह रहे हैं—

(१) सभी द्वार का संयम करना पड़ेगा—जिससे जीव विषयों के प्रति आकृष्ट होकर वाहर जाता है एवं विषय भीतर (हृदय में) प्रवेश करते हैं वह द्वार है। इन्द्रियों को ही यहाँ द्वार शब्द से निर्देश किया है। अतः 'सभी द्वारों का संयम करे' इस वाक्य का अर्थ है सब इन्द्रियों को [चक्षुः, कर्ण, नासिका जिह्वा त्वचा ज्ञान इन्द्रियों को (जिनके द्वारा रूप, शब्द, गन्ध, रस व स्पर्श—इन पञ्च विषयों का ग्रहण किया जाता है उनको) अपने अपने विषय से निवृत्त करना होगा।] जबतक विषय में सत्यत्व व सुखत्व बुद्धि है तबतक इन्द्रियाँ विषयों से विरक्त नहीं हो सकती। इसलिये विषयों के अनित्यत्व (मिथ्यात्व) व दुःखत्व (अर्थात् सभी विषय क्षणस्थायी एवं दुःखदायक हैं इस प्रकार विषयो में पुनः पुनः दोषदर्शन पूर्वक जब तक वैराग्य उत्पन्न नहीं होता तब तक इन्द्रियों को विषयों से निवृत्त करना असम्भव है।

(२) मन को हृदय में निरोध करना होगा—विचार पूर्वक प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियों को विषयों से निवृत्त करने से भी मन यदि पूर्वसंस्कारवश विषय का ध्यान एवं उसके सम्बन्ध में संकल्पविकल्प करता रहे तो इन्द्रियाँ भी चञ्चल होकर विषयग्रहण मे प्रवृत्त होंगी अर्थात् उसी अवस्था में विषयों में दोषदृष्टि रहने पर भी अवश होकर इन्द्रियाँ बहिर्मुखी होंगी—विचार तथा वैराग्य के बाँध टूट जायगा। इसलिये इन्द्रियों के राजा मन को वशीभूत करना चाहिए। एकमात्र सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा ही सत्यवस्तु और सब काल्पनिक एवं मिथ्या हैं—ये जबतक शास्त्र तथा गुरुवाक्यों से निःसंशयरूप से

निश्चित न हो तब तक मनको वशीभूत करना सहज नहीं होता है कारण विषयों के चिन्तन में चिर-अभ्यस्त मन का विषयों से निवृत्त होकर एक दूसरा ध्येय या चिन्तन करने के योग्य ऐसा अवलम्बन (आश्रय) चाहिए जो विषयों से अधिक आनन्द दे सकता है। हृदय ही संकल्प विकल्प का अर्थात् मन का स्थान है। यद्यपि मूलाधार से लेकर सहस्रदल पद्मतक प्रत्येक चक्र में ही मन का निरोध करना संभव है तथापि हृदय में ही (हृत् पुण्डरीक में ही) परमात्मा का ध्यान करके मन को स्थिर करना सहजसाध्य है इसलिये भगवान् ने कहा—'मनो हृदि निरुध्य च'।

(३) प्राण को मस्तक में (भ्रूमध्य में या उसके ऊपर) स्थापित कर योगधारणा में आस्थित (प्रवृत्त) होना पड़ेगा—माया भगवानकी शक्ति है। वह तीन भागों में विभक्त होकर जगत् प्रपञ्च के सारे कर्म निर्वाह करती है। (क) ज्ञानशक्ति (ख) इच्छाशक्ति एवं (ग) क्रिया शक्ति वे तीन शक्तियाँ है। वे जब तक शान्त (निरुद्ध) न हो जाये तबतक आत्मा के अज्ञानरूप आवरण एवं प्रपञ्चरूप विक्षेप नष्ट न होने के कारण शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा (जिसको वेद तथा उपनिषदों में परब्रह्म, परमात्मा भगवान् इत्यादि शब्दों से अभिहित किया गया है वह) प्रकाशित नहीं हो सकता। इन्द्रिय द्वार से ज्ञानशक्ति का कार्य होता है क्योंकि शब्द रूपादि का ज्ञान पञ्च ज्ञानेन्द्रियों से ही होता है। अतः उन इन्द्रियों का निरोध होने पर ज्ञानशक्ति—का कार्य स्वतः ही स्थिर हो जाता है। अतः भगवान् ने कहा—'सर्वद्वाराणि संयम्य'। इच्छाशक्ति संकल्पविकल्पात्मक मनको आश्रय कर कार्य करती है कारण मन से ही काम (इच्छा) का उदय होता है। अतः मन का निरोध करने पर इच्छाशक्ति—(काम या वासना) नष्ट हो जाती है। इसलिये 'भगवान् ने कहा—मनो हृदि निरुद्धय च' क्रियाशक्ति—का द्वार है प्राण अर्थात् प्राणवायु का आश्रय कर ही क्रियाशक्ति कार्यकारिणी होती है अतः प्राणवायु का निरोध होने पर क्रियाशक्ति स्थिर हो जाती है। (प्राणायाम) कुंभक से प्राणवायु को निरुद्ध करना सम्भव है किन्तु प्राणवायु को सब ओर से निगृहीत कर पहले प्राण को हृदय में सुषुम्नानाड़ी के अन्तर्गत अनाहत चक्र में ले आकर उस ऊर्द्धगामिनी सुषुम्नानाड़ी से क्रमशः उसको कंठ में (विशुद्धचक्र में) तत् पश्चात् भ्रूमध्य में (आज्ञाचक्र में) एवं तदनन्तर ब्रह्मरन्ध्र में (सहस्रारपद्म में) उठाकर स्थापन करना होगा क्योंकि शेष दो स्थानों में प्राणवायु को कुम्भक द्वारा स्थिरकर योगधारणा में [योग के लिये अर्थात् आत्मा के साथ ऐक्यानुभव करने के लिये धारण करके अर्थात्

कोई एक निर्दिष्ट स्थान में मन को स्थिर करके आत्मा में (परब्रह्म में)] आस्थित होना (प्रवृत्त होना) सहजसाध्य है। इसलिये भगवान् ने कहा– 'मूर्ध्नि आधाय प्राणम्' (क्रियाशक्ति के द्वारस्वरूप प्राण को मस्तक में आज्ञा चक्र या सहस्रार में सम्यक् प्रकार से स्थापन स्थिर कर 'आत्मनः योगधारणाम् आस्थितः (सन्) आत्मा में समाधिरूप योगधारणा में प्रवृत्त होकर यदि कालपर्यन्त श्रद्धापूर्वक एक (अद्वितीय) अक्षर (अविनाशी) ब्रह्म का वाचक ॐकार का अन्तर में उच्चारण करता हुआ ॐ शब्द के अर्थभूत मुझ परमेश्वरको स्मरण करते रहे तो इस प्रकार अभ्यास के बल से मृत्युकाल में भी जो मुझको (परब्रह्म को) ही स्मरण करता हुआ देह को छोड़कर अर्चिरादि मार्ग से (ब्रह्मलोक में) गमन करता है वह परमा गति (मोक्ष) प्राप्त होता है। [यदि उस प्रकार के अभ्यास के बल से [अर्थात् उक्त प्रकार से माया की तीनो शक्तियों के (ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति तथा क्रियाशक्ति के) पूर्णरूप से नष्ट हो जाने पर मायाकृत आवरण व विक्षेप से मुक्त होकर जीव ब्रह्म में लीन होकर रहता है। अतः इस प्रकार योगी के प्राण का उत्क्रमण नहीं होता है। देह के अन्त में पश्चात् वह ब्रह्मस्वरूपता प्राप्त होता है। और जिसका अभ्यास परिपक्व नहीं हुआ है उसकी क्रममुक्ति होती है। यही इन दो श्लोकों का तात्पर्य है।]

[अब प्रश्न होगा कि प्राणवायु को निरोध करने में असमर्थ होने के कारण जो व्यक्ति इस प्रकार भ्रूकुटी के मध्य में अथवा उसके ऊपर प्राण को स्थिर कर अपनी इच्छा के अनुसार मूर्धन्य (मस्तक के अन्ततक जानेवाली) नाड़ी से (सुषुम्नानाड़ी से) प्राण का परित्याग करने में असमर्थ है अपितु जिस कर्म के द्वारा देह का आरम्भ हुआ है उसका क्षय होने से अर्थात् प्रारब्ध के वशीभूत होकर (विवश होकर) देह को त्यागता है उसकी क्या गति होती है ? (मधुसूदन) इसके उत्तर में श्रीभगवान् कह रहे हैं कि इसलिए ही अनन्यचित्त होकर निरन्तर भगवान के अनुस्मरण का प्रयत्न करना सब मुमुक्षु के लिये कर्त्तव्य है—]

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ १४ ॥

अन्वय—हे पार्थ ! सततम् अनन्यचेताः (सन्) यः मां नित्यशः स्मरति, तस्य नित्ययुक्तस्य योगिनः अहं सुलभः (अस्मि)।

अनुवाद—हे पार्थ ! सर्वदा अनन्यमनाः होकर (मुझसे अतिरिक्त अन्य कोई भी विषय का चिन्तन नहीं करता हुआ) जो पुरुष मुझे दीर्घकाल (यावज्जीवन) स्मरण करता है उस सदायुक्त (समाहित) योगी के लिए मैं सुलभ हूँ अर्थात् वह मुझे अनायास ही प्राप्त होता है।

भाष्यदीपीका। हे पार्थ !—हे अर्जुन ! [तुम्हारी माता पृथा किसी प्रकार के वायुनिरोध इत्यादि योगसाधन के विना ही केवलमात्र समस्तजीवन निरन्तर मुझको स्मरण कर मेरे साथ नित्ययुक्त रह सकती थी। अतः तुम पूर्वश्लोकोक्त योगसाधन करने में असमर्थ होने पर भी तुम्हें हताश होने का कोई कारण नहीं है। केवल निरन्तर स्मरण के द्वारा ही तुम मुझे प्राप्त कर सकोगे। ऐसा आश्वासन देने के लिए ही यहाँ श्रीभगवान ने 'पार्थ' कहकर सम्बोधन किया।] सततम्—निरन्तर सर्वदा अनन्यचेताः—जिसका चित्त मुझ (ईश्वर) को छोड़कर और किसी विषय में लिप्त नहीं होता है वह व्यक्ति अनन्यचेताः है यः—इस प्रकार निरन्तर अनन्यचित्त होकर जो योगी मां—मुझको अर्थात् परमेश्वर को नित्यशः स्मरति–नित्यशः शब्द का अर्थ है चिर-काल। छः महीने नहीं, एक वर्ष ही नहीं, किन्तु जबतक जीवन रहेगा तबतक अर्थात् यावज्जीवन जो व्यक्ति निरन्तर मुझे स्मरण करता है तस्य नित्य-युक्तस्य–उस नित्य (सदा) युक्त (समाहित) योगी के लिए। [सतत समा-हितचित्त योगी योगबल से (स्वाधीनभाव से अर्थात् अपनी इच्छा से) अथवा प्रारब्धवश (प्रारब्ध के अधीन होकर) देह त्याग करने पर भी उसके लिए। अहं सुलभः (अस्मि)—मैं सुलभ हूँ अर्थात् दूसरों के लिये मैं बहुत दुर्लभ होनेपर भी वह अनायास ही मुझे प्राप्त होता है। अतः हे अर्जुन ! तुम भी मुझमें अनन्यचित्त होकर सर्वदा मुझमें समाहित रहने का अभ्यास करो।

[श्लोक में 'तस्य' इस पद में सम्बन्धसामान्य में 'शेषे षष्ठी' विभक्ति प्रयुक्त हुआ है, कर्त्ता में षष्ठी नहीं है क्योंकि 'न लोकव्यय' इत्यादि पाणिनि सूत्र के द्वारा खलर्थ प्रत्यय युक्त कर्त्ता में षष्ठी निषिद्ध है। पातंजल योगशास्त्र में कहा गया है 'स (अभ्यासः) तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेवितो दृढ़भूमिः' (पा० यो० १।१४) अर्थात् उस अभ्यास का दीर्घकाल तक निरन्तर आदरपूर्वक अनुष्ठान होने से दृढ़भूमि अर्थात स्थिर होता है। वर्तमान श्लोक में उस योगसूत्र की साधनपद्धति सूचित हो रही है। उक्त पातञ्जल योगसूत्र में 'सः' शब्द का अर्थ अभ्यास होनेपर भी वह स्मरण में ही पर्यवसान पानेवाला होता है अतः यहाँ स्मरण शब्द के द्वारा अभ्यास, अनन्यचेताः शब्द के द्वारा सत्कार (अति आदर), सतत शब्द के द्वारा नैरन्तर्य एवं नित्यशः शब्द के

द्वारा दीर्घकाल सूचित हुए हैं। अतः श्लोक का तात्पर्य यह है कि यावज्जीवन अन्य सभी प्रकार के विक्षेप से शून्य होकर प्रतिक्षण निरन्तर भगवान का चिन्तन ही अन्त में परमगति की प्राप्ति का हेतु या उपाय है—मूर्धन्य नाड़ी से स्वेच्छापूर्वक प्राण का उत्क्रमण हो या न हो उसमें शास्त्र का विशेष आग्रह नहीं है अर्थात् मूर्धन्य (सुषुम्ना) नाड़ी से उत्क्रमण नहीं होने से परम गति की प्राप्ति नहीं होगी, ऐसी कोई बात नहीं है। (मधुसूदन)]

टिप्पणी (१) श्रीधर—जो नित्य अभ्यास करता है उसके लिये (अन्य के लिये नहीं) इस प्रकार से (पूर्वश्लोक में कहे गये प्रकार से) योगधारणा द्वारा मेरी प्राप्ति होती है। इस प्रकार पहले कही हुई वात का ही स्मरण कराते हैं—अनन्यचेताः—जिसका चित्त अन्य किसी विषय में लिप्त नहीं है वह 'अनन्यचेताः' है। इस प्रकार होकर यः—जो साधक सततं नित्यशः मां स्मरति—सदा ही प्रतिदिन मेरा स्मरण करता रहता है तस्य नित्ययुक्तस्य योगिनः—उस सदा मुझमें युक्त (समाहित चित्त) योगी के लिये अहं सुलभः—मैं सुख पूर्वक लभ्य (प्राप्त होने योग्य) हूँ—अन्य के लिये ऐसा सुलभ नहीं हूँ।

(२) शंकरानंद—इसप्रकार से परब्रह्म के उपासकों की परमगति के सम्बन्ध में कहकर अब श्रवण आदि के द्वारा आत्मतत्त्व को परोक्ष भाव से जानने वाला जो यति तीव्र मोक्षेच्छा से भलीभाँति उत्पन्न हुए वैराग्य के वेग से नित्य निरन्तर मुझ परब्रह्म का अनुसन्धान करता है, उसके लिए मैं सुलभ हूँ, इसप्रकार अपनी सुलभता का प्रतिपादन कर रहे हैं।

अनन्यचेताः—अनन्यचेता (ब्रह्म के बिना अन्य विषय की चिन्ता जिसको नहीं है अर्थात् अन्य विषय को जिसका चित्त स्पर्श नहीं करता है वह 'अनन्यचेता' है) अर्थात् ब्रह्म में ही समाहित—चित्त होकर यः—जो ब्रह्मविद् नित्यशः—नित्यशः अर्थात् यावज्जीवन तस्य—उस नित्ययुक्तस्य—नित्ययुक्त का अर्थात् सर्वदा जो मेरा अनुसन्धान करता है ऐसा योगिनः—योगी को अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ यति को अहं—मैं सुलभः-सुलभ हूँ अर्थात् अनायास ही लभ्य हूँ, यही अर्थ है। इसलिए इसको (इसप्रकार नित्ययुक्त पुरुष को) योगियों के समान न तो प्राणायाम अभ्यास का क्लेश, न इन्द्रिय-निग्रह का श्रम, न मन का निरोध करने में आयास (परिश्रम) होता है और न सुषुम्ना के द्वारा ऊर्ध्व जाने का दुःख होता है एवं शीर्षकपाल भूमि आदि आवरण को भेदन करने में जो थोड़ी सी व्यथा का सम्भव है वह भी नहीं होती है किन्तु यहीं (इस देह में ही) स्थित होकर प्रारब्ध कर्म का क्षय होने

पर स्वतः ही प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि का सुषुप्ति में जिसप्रकार ब्रह्म में विलय प्राप्त होने से बिना प्रयत्न से जीव प्राज्ञ को प्राप्त होता है उसप्रकार ही ब्रह्मविद् मुझको निर्विशेष, निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, अनन्त, अपूर्व, अनपर, अबाह्य, आनन्दघन परब्रह्म को प्राप्त होता है। इसलिए ब्रह्मविद् यति को, ब्रह्मनिष्ठ को मेरी प्राप्ति सुलभ होने के कारण मैं सुलभ हूँ, यह कहा गया है। [यद्यपि विषयासक्त पुरुष के लिये मैं सदा ही दुर्लभ हूँ], सुख से जो प्राप्य होता है उसे सुलभ कहा जाता है। इसलिए तुम अनन्यचित्त होकर सर्वदा मुझे स्मरण करो, यही अर्थ है ॥ १४ ॥

(३) **नारायणी टीका**-पूर्वोक्त श्लोक में वर्णित योगधारणा का आश्रय कर जो भगवद्भक्त प्रणवजप सहित परमात्मा का स्मरण कर देहत्याग करने में समर्थ नहीं है अर्थात् जिसने पूर्वोक्त प्रकार से योगसाधन नहीं किया है परन्तु स्वयं निष्कपट भगवद्भक्त है उनकी क्या गति होगी ? उसप्रकार शंका होने पर भगवान् कह रहे हैं कि जिसका चित्त भगवान् को छोड़कर कभी दूसरे विषय की चिन्ता नहीं करता है किन्तु सतत (निरन्तर) नित्यशः (प्रतिदिन जबतक जीवन रहे तबतक) मुझ परब्रह्म को ही स्मरण करता है उस नित्ययुक्त (मुझमें ही सर्वदा समाहित) योगी के निकट मैं (परमेश्वर) अत्यन्त सुलभ हूँ अर्थात् वह मुझको अनायास प्राप्त करता है। पातञ्जल योगशास्त्र में दो प्रकार के योगी वर्णित किये गये हैं—(१) अष्टांगयोगानुष्ठानकारी योगी और (२) ईश्वरप्रणिधान करते हुए योगी दोनों को अन्त में कैवल्य (मोक्ष) रूप फल प्राप्त होता है। पूर्ववर्ती दो श्लोकों में अष्टांगयोगानुष्ठानकारी योगी का साधन व अन्तिम गति कही गई है और इस श्लोक में ईश्वरप्रणिधानाभ्यास-कारी अर्थात् अपने वर्णाश्रमोचित शास्त्रविहित सर्व कर्म निष्काम भाव से निरन्तर ईश्वर में समर्पण बुद्धि से करने वाले योगी को अन्त में क्या फल प्राप्त होगा ? यह कह रहे हैं। (१) सतत (निरन्तर) एवं (२) नित्यशः (यावज्जीवन) (३) अनन्यचित्त होकर तथा भगवान् के साथ (४) नित्ययुक्त रहकर भगवान् का स्मरण कैसे कर सकता है इस विषय में भगवान् स्वयं ही आगे बोलेंगे। (गीता ४।२५, ९।२७–२८, ६।३०, ६।३४, १८।६५–६६ इत्यादि) संक्षेप से उपाय इसप्रकार है—(क) कर्मफल की वासना से रहित होकर सर्व कर्म भगवान् में समर्पण करना (ख) सर्वत्र सर्वरूप से (सर्वकारक रूप से अर्थात् कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान एवं अधिकरण रूप से) एकमात्र सर्वात्मा अखण्डाद्वितीय शुद्ध चैतन्यसत्ता भगवान् ही विराजमान है तथा सब दृश्यप्रपञ्च माया के कार्य (मिथ्या) हैं, इसप्रकार निश्चयात्मिका

बुद्धि से भगवान् का स्मरण करना। इसप्रकार अभ्यास करने से भगवान् के अतिरिक्त (मिथ्या) बाह्य वस्तु की चिन्ता या उनके प्रति आसक्ति नहीं रहने कारण (अर्थात् किसी प्रकार का विक्षेप न रहने के कारण) चित्तवृत्ति स्वतः ही स्थिर हो जाती है एवं निर्विकल्प समाधि द्वारा परमात्मस्वरूप का साक्षात्कार होता है [अर्थात् इन्द्रियनिग्रह, मन का बलपूर्वक निरोध, प्राणवायु का विशिष्ट चक्र में (स्थान में) रूद्ध करना इत्यादि पूर्व श्लोकोक्त योगधारणा का साधन में जो क्लेशों की सम्भावना है उन क्लेशों के बिना ही केवल निरन्तर विश्वास व प्रेमपूर्वक भगवान् के स्मरण से ही भगवान् अति सुख से प्राप्त हो सकता है। दूसरी विशेषता यह है कि पूर्व श्लोकोक्त योगी को देहत्याग करने के पश्चात् ब्रह्मलोक में जा कर परमात्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता है परन्तु अनन्यचित्त नित्ययुक्त योगी को इस शरीर रहते हुए ही परमात्मा का साक्षात्कार होता है एवं उसका कोई लोक में गमन नहीं होता है क्योंकि मृत्यु के पश्चात् वह ब्रह्म में लीन हो जाने के कारण सद्योमुक्ति प्राप्त होता है। इसलिये भगवान् ने कहा—तस्याहं सुलभः (सुखेन लभ्यः)। [अब प्रश्न होगा, तुम अनन्यचित्त भक्तों के लिये अर्थात् भगवान् को प्राप्त हुए पुरुषों का पुनर्जन्म होता है या नहीं ? ऐसा संशय होने पर कहते हैं कि नहीं होता—]

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ १५ ॥

अन्वय—महात्मानः माम् उपेत्य परमां संसिद्धिं गताः (सन्तः) दुःखालयम् अशाश्वतं जन्म पुनः न प्राप्नुवन्ति।

अनुवाद—महात्मा लोग मुझको प्राप्त होने पर परम सिद्धि प्राप्त करते हैं, अतः पुनः दुःख का आलयस्वरूप (दुःखपूर्ण) अनित्य जन्म ग्रहण नहीं करते हैं अर्थात् संसार में उनका पुनरावर्तन नहीं होता है।

भाष्यदीपिका—महात्मानः—यतिगण। जिनकी आत्मा (अन्तःकरण) महान् (विस्तृत) है, अर्थात् जिनका अन्तःकरण रजः तथा तमोरूप मलविहीन होने के कारण शुद्धसत्त्व होकर (अति उत्कृष्ट सत्त्वगुण से विशिष्ट होकर) सम्यक् दर्शन (तत्त्वज्ञान) प्राप्त किया है वे महात्मा हैं। [महात्मत्वं प्रकृष्टसत्त्ववैशिष्ट्यम् (आनन्दगिरि)]

माम्—मुझको अर्थात् ईश्वर को उपेत्य—प्राप्त होकर अर्थात् मेरे भाव को (स्वरूप को) प्राप्त होकर (केवल मेरा सामीप्य प्राप्त होकर नहीं)

परमां संसिद्धिं गताः (सन्तः)—परम (अर्थात् सर्वोत्कृष्ट) मोक्ष नामक सम्यक् सिद्धि प्राप्त होते हैं एवं इसप्रकार मोक्षलाभ करने के बाद दुःखालयम्—जिसमें सभी प्रकार के दुःख आलय (चारों ओर से स्थित रहते हैं उसे 'दुःखालय' कहा जाता है। सांसारिक जन्म आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक इन तिनों प्रकार के दुःखों के आलय अर्थात् आश्रय या स्थान है, इसलिए इसे 'दुःखालय' कहा गया है। सांसारिक जन्म जो केवल दुःखालय ही है, वह बात नहीं, परन्तु वह अशाश्वतं—अनवस्थितस्वरूप है (स्थिर स्वभाव है अर्थात् वह दृष्ट-नष्ट स्वरूप है क्योंकि देखते देखते ही वह नष्ट हो जाता है। पुनः न आप्नुवन्ति—[मेरे भाव या स्वरूपता को प्राप्त कर जो महात्मा मुक्त हो जाते हैं वे ऐसा जन्म (मनुष्यादि देह के साथ सम्बन्ध) पुनः प्राप्त नहीं होते हैं। जो लोग मुझको (भगवान् को) प्राप्त नहीं होते हैं वे लोग ही संसार में पुनरावर्तन करते हैं। अर्थात् फिर संसार में जन्म लेते हैं)।

[मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि यहाँ 'मुझे प्राप्त होकर तदनन्तर वे लोग मुक्तिरूप सिद्धिलाभ करते हैं, ऐसा कहते हुए भगवान् ने उपासकों की क्रममुक्ति दीखायी है।]

टिप्पणी (१) श्रीधर—यद्यपि तुम इस प्रकार सुलभ हो किन्तु इससे क्या होता है ? इसके उत्तर में कहते हैं। महात्मानः—पूर्व श्लोकों में जो जो लक्षण बतलाया उन लक्षणों से सम्पन्न मेरे भक्त महात्माजन माम् उपेत्य—मुझको (मेरे स्वरूप को) प्राप्त होकर दुःखालयम् अशाश्वतम् पुनः जन्म न प्राप्नुवन्ति—पुनः सर्वदुःखों के आश्रय एवं अनित्य जन्म को नहीं प्राप्त होते हैं क्योकि संसिद्धिं परमां गताः—वे यति परम (उत्कृष्ट) सम्यक् (पूर्ण) सिद्धि—(मोक्ष) ही प्राप्त किये है अथवा इस प्रकार भी अर्थ किया जा सकता है—वे मुझको प्राप्त होकर पुनर्जन्म और दुःखों के आलय को (दुःखों के स्थान यह अनित्य संसार को) नहीं पाते हैं।

(२) शंकरानंद—सम्पूर्ण रूप से कर्म-त्यागी, एकाकी, मौनी, भैक्ष्यजीवी (जो भिक्षा के द्वारा जीवन धारण करनेवाला) होकर कहीं भी बैठकर 'यह सब एवं मैं ब्रह्म ही हूँ' इसप्रकार आध्यात्मदृष्टि के द्वारा सर्वदा जो सभी को ही ब्रह्मरूप से देखते हैं, उस ब्रह्मनिष्ठ यति का 'मैं सुलभ हूँ' ऐसा कहकर अपनी प्राप्ति की सुलभता का प्रतिपादन कर अब अपने को (ईश्वर को) जो यति प्राप्त होते हैं उनका क्या फल लाभ होता है वह कह रहे हैं

माम्—मुझको अर्थात् सच्चिदानन्दैकरस परब्रह्म को उपेत्य—प्राप्त कर अर्थात् मेरी एकरसता को प्राप्त होकर केवल आनन्दमयी संसिद्धिं—संसिद्धि

अर्थात् मेरे स्वरूप में स्थितिरूप विदेहमुक्ति गताः—प्राप्त हुए महात्मानः—महात्मागण (महानुभाव यतिगण) अथवा महात्मानः—महान्-नित्य-निरन्तर ब्रह्मनिष्ठा के द्वारा रजोगुण एवं तमोगुण के कार्य निःशेषित होने पर जिनकी आत्मा (मन) अतिस्वच्छ होने के कारण श्रेष्ठ है अर्थात् केवल शुद्ध—सत्त्व-भावप्राप्त आत्मा (मन) जिनका है अथवा जो सुप्रसन्न अन्तःकरण से सम्पन्न हैं वे महात्मा हैं। इसलिए परम (अनुत्तम फल देने के लिए उन्मुख) संसिद्धिं—संसिद्धि को सुख के अनुभव में या दुःख के अनुभव में यदि सदाही चित्त की वृत्ति को ब्रह्मस्वरूप में ही स्थिति रहे अर्थात् बहु जन्म से अभ्यस्त होने के कारण यदि सभी अवस्था में अप्रतिबद्ध, अखंडाकारावृत्ति रहे तब उस वृत्ति को संसिद्धि कहा जाता है। इसप्रकार संसिद्धि को गताः—प्राप्त ब्रह्मनिष्ठ यति माम्—कार्यकारणभावरहित मुझको अर्थात माया एवं उसके कार्य के लेशमात्र के सम्बन्ध से शून्य, सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन परब्रह्म को उपेत्य-प्राप्त होकर जिस प्रकार घटाकाश महाकाशता को प्राप्त होता है उस प्रकार स्वयं ब्रह्मैक्य प्राप्त होकर अशाश्वतम्—अशाश्वत [शाश्वत जो ब्रह्मभाव है उससे विलक्षण होने के कारण अशाश्वत अर्थात् नश्वर (विनाशशील)] एवं उसमें भी दुःखालयम्—दुःखालय—आध्यात्मिक आदि दुःखों का आश्रय जो जन्म है (इस स्थल में जन्मरूप विकार से विकारी जन्मशील शरीर को ग्रहण किया गया है) उसको प्राप्त नहीं होते हैं। विदेह-मुक्तिप्राप्त ब्रह्मविद् पुनः अनित्य एवं दुःखप्रधान देव का, प्रजापति का, गन्धर्व का, मनुष्य का अथवा अन्य शरीर न आप्नुवन्ति—प्राप्त नहीं करते हैं क्योंकि कारण का अभाव है। अविद्या, काम एवं कर्म ही शरीर-प्राप्ति का कारण है, वे सब सम्यक् ज्ञानरूप महान् अग्नि की ज्वाला से भस्मीभूत होने पर मुक्त हुए पुरुष पुनरावर्तन नहीं करते हैं क्योंकि 'न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्त्तते' ('पुनरावर्त्तन नहीं करते हैं एवं पुनरावर्त्तन नहीं करते हैं अर्थात् संसार में फिर नहीं लौटते हैं' ऐसी श्रुति है। अभ्यास (पुनः पुनः आवृत्ति) संशय छेदन करता है। [इसलिये उक्त श्रुति में दो बार 'न च पुनरावर्तते' इस वाक्य का अभ्यास (आवृत्ति) हुआ जिससे इस विषय पर कोई संशय न रहे।]

(३) नारायणी टीका—जिसका चित्त महान् (सर्वोत्कृष्ट एवं सबसे बृहत्) ब्रह्म में स्थित हुआ है वह महात्मा है। इस प्रकार जो सब महात्मा परम (सर्वोत्कृष्ट) संसिद्धि (पुरुषार्थ की सिद्धि अर्थात् मोक्ष सम्यक् प्रकार से अर्थात् पूर्णरूप से) प्राप्त हुए हैं वे ब्रह्मस्वरूप वासुदेव को ही प्राप्त

होते हैं (अर्थात् ब्रह्मस्वरूपता प्राप्त होते हैं)। अतः उनके गर्भवास एवं योनिद्वार से निर्गमनादिरूप अनेक प्रकार के दुःख के आलय (स्थान) स्वरूप एवं अशाश्वत (अनित्य अर्थात् देखते देखते ही नष्ट हो जाने वाला है इस प्रकार) जन्म पुनः प्राप्त नहीं होते हैं। जन्म होने पर मृत्यु भी अवश्यम्भावी है। अतः संसार में पुनरागमन होने से केवल गर्भवासादि दुःख ही भोगना पड़ता है यह बात नहीं है—जब तक जीवन रहेगा तब तक विवेकदृष्टि से सब कुछ दुःखमय ही प्रतीत होता है। फिर मृत्युकाल में भी अशेष क्लेश से देहको छोड़ना पड़ता है। इसलिये प्रत्येक बुद्धिमान् व्यक्ति को ही परम संसिद्धि (मोक्ष) प्राप्त कर परमात्मा में लीन होकर परब्रह्म की स्वरूपता प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करना कर्तव्य है क्योंकि वही मृत्यु के पर विजय प्राप्ति का एकमात्र उपाय है। ज्ञान, योग व भक्ति इन तीनों में से किसी एक मार्ग से मृत्यु को जय करना सम्भव है।

(१) ज्ञानी की मृत्युजय—ज्ञानी गुरुमुख से तथा शास्त्रों से ब्रह्म के स्वरूप श्रवण एवं मनन (विचार) कर जान लेते हैं कि आत्मा देह से पृथक् है वह नित्यशुद्ध चैतन्यस्वरूप द्रष्टा या विज्ञातामात्र है—वह आनन्दस्वरूप है। कर्तृत्व भोक्तृत्व सुख दुःख, जन्ममृत्यु लोक-परलोक में गमनागमन सभी सूक्ष्म या स्थूल शरीर का ही है। एवं शरीर व विश्व प्रपञ्च माया की सृष्टि है अर्थात् वे प्रतीत होने पर भी उनकी कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं है। इस प्रकार संशयरहित परोक्षज्ञान लाभकर निदिध्यासन से (निर्विकल्प समाधि से) आत्मसाक्षात्कार करने के पश्चात् आत्मा में ही निरन्तर रमण करते हैं। अतः देहगेहादि में सर्वप्रकार से ज्ञानी का अभिमान ('मैं और मेरा' बुद्धि) नष्ट हो जाने के कारण जीवन्मुक्त आनन्द में मग्न रहते हैं एवं देह के प्रारब्ध का क्षय होने पर सद्योमुक्ति (ब्रह्मस्वरूपता) प्राप्त होते हैं। उनका प्राण उत्क्रमण नहीं करता क्योंकि वह ब्रह्म में ही लय हो जाता है अतः उनके तो पुनर्जन्म की कोई बात नहीं हो सकती है।

(२) योगी की मृत्युजय—जो इस जन्म में तत्त्वज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ हैं किन्तु ९-१२ श्लोकों में उक्त योग धारणा के द्वारा प्राण को मस्तक में स्थिर कर ॐ इस शब्द का उच्चारण पूर्वक परमात्मा को स्मरण कर देहत्याग करते हैं वे मृत्यु के पश्चात् ब्रह्मलोक में जाकर तत्त्वज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो जाते हैं अर्थात् ब्रह्मस्वरूपता को प्राप्त होते हैं। अतः इस प्रकार योगिओं के भी संसार में पुनः जन्म नहीं होता है। और जो योगी इन्द्रिय, मन व प्राण को स्थिर कर निर्विकल्प समाधि से आत्मसाक्षात्कार कर परिपक्व अभ्यास से आत्मा में

निरन्तर स्थिति प्राप्त करते हैं उनकी अन्त में ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानी के समान सद्योमुक्ति होती है ।

(३) भक्त को मृत्युजय—जो शास्त्र तथा गुरुवाक्यों पर अचल विश्वास व श्रद्धापूर्वक भगवान् को ही जीवन का परम सुहृत् आत्मा तथा सब कुछ मानकर निरन्तर (आहार विहार शयन भोजनादि सभी कर्म करते हुए) भगवान् को ही स्मरण करते हैं—एक क्षण के लिये भी उनको भूलते नहीं इस प्रकार भक्त का चित्त सर्वदा भगवान् में समाहित रहने के कारण अभ्यास परिपक्व होने पर निर्विकल्प समाधि से ब्रह्मस्वरूप आत्मा का साक्षात्कार होता है । अतः ज्ञानी के समान अनन्य भक्त भी सद्योमुक्ति प्राप्त करते हैं एवं उनका पुनर्जन्म नहीं होता है। विशेषता यह है कि भक्तों की साधन-अवस्था में क्लेश नहीं होता है परन्तु उनके साधन सुखकर होता है एवं उनके लिये परमात्मा सुलभ ही होता है (गीता ९।२, ८।१४) और जो भक्त निरन्तर भगवान् के सगुण भाव का जीवद्दशा में स्मरण करते हैं किन्तु प्रबल प्रारब्ध के वेग से जिनका मनोनाश एवं वासनाक्षय नहीं हो पाया है उनको निर्गुण (मायातीत) भगवान् का स्वरूपज्ञान तथा उस स्वरूप में दृढ़ निष्ठा (स्थिति) लाभ करना दुष्कर है । अतः उनको ब्रह्मलोक में गमन करके तत्त्वज्ञान एवं ब्राह्मीस्थिति प्राप्त करके मुक्ति होती है (अर्थात् उनकी क्रममुक्ति होती है) ।

ज्ञानयोग तथा भक्ति मार्ग के अभ्यासकारियों में से किसी को यदि साधनावस्था में मृत्यु या दैवकोपवश योगभ्रंश हो जाय तो उस योगभ्रष्ट पुरुष का पुनर्जन्म होता है । (गीता ६।४१–४२) ।

[जो सम्यग्दर्शी व्यक्तिगण तुम्हारे भाव को प्राप्त हुए हैं, उनकी संसार में पुनरावृत्ति नहीं होती है, यह मैंने माना, किन्तु संशय यह है कि तुमसे भिन्न अन्य किसी को प्राप्त होनेवाले पुरुष की क्या पुनरावृत्ति होती है कि नहीं ? श्रुति में कहा है 'अपाम सोममसृता अभूम' अर्थात् सोमपान कर हमलोग अमृत हो गये हैं (मरणरहित हुए हैं) । इस श्रुति से तो यही प्रतीत होता है कि जो लोग सतत तुम्हारा अनुस्मरण न कर भी (ईश्वर की भक्ति से रहित होकर भी) यज्ञादि के अनुष्ठान के द्वारा स्वर्गलोक प्राप्त होते हैं, उनलोगों की भी पुनरावृत्ति नहीं होती है । इसके उत्तर में कह रहे हैं—]

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

अन्वय—हे अर्जुन ! आब्रह्मभुवनात् लोकाः पुनरावर्तिनः (भवन्ति) । हे कौन्तेय ! माम् उपेत्य तु पुनर्जन्म न विद्यते ।

अनुवाद—हे अर्जुन ! ब्रह्मलोक पर्यन्त सभी लोक पुनरावृत्ति की प्राप्ति करानेवाले हैं (अर्थात् वे सभी लोक पुनर्जन्म के देनेवाले हैं) किन्तु हे कुन्तीनन्दन ! मुझे प्राप्त होनेपर पुनर्जन्म नहीं होता है ।

भाष्यदीपिका । **हे अर्जुन !**—अर्जुन शब्द का अर्थ है । शुद्ध । तुम तो शुद्ध हो एवं तुम्हारा महत् पौरुष भी (मानसिक तथा दैहिक बल भी) स्वतःसिद्ध (स्वाभाविक) है । तुम जो अनायास ही मुझको प्राप्त होकर जन्म मृत्यु के चक्र से मुक्त होओगे इसमें और सन्देह क्या है ? इस अभिप्राय से श्रीभगवान ने 'अर्जुन' कहकर सम्बोधन किया । **आब्रह्मभुवनात् लोकाः**—जिसमें प्राणिगण उत्पन्न होते हैं उसका नाम भुवन है । ब्रह्मा का भुवन= ब्रह्मभूवन=ब्रह्मलोक । आ—अभिविधि या व्याप्ति, इसलिए 'आब्रह्मभुवनात् लोकाः' शब्द का अर्थ है ब्रह्मलोक सह और सभी लोक अर्थात् ब्रह्मलोक पर्यन्त जितने लोक हैं, वे सभी **पुनरावर्तिनः**—पुनरावर्तनस्वभाववाले हैं अर्थात् उनमें जाकर जीव संसार में पुनरावर्त्तन करते हैं (लौट आते हैं अर्थात् जन्म लेते हैं) । [ब्रह्मलोक तक सभी लोक ही (स्थान ही) माया के अधीन हैं 'अतः इन लोकों में जो लोग अपने अपने कर्मवश होकर जाते हैं वे असम्यग्दर्शी (तत्त्वज्ञानरहित) होने के कारण उन सभी को ही संसार में प्रत्यावर्तन करना पड़ता है । ब्रह्मलोकप्राप्ति होने से भी उस लोक के भोगों की समाप्ति होनेपर जब संसार में लौट आना पड़ता है तब दूसरे लोकों की तो बात ही क्या है ? भगवान् को प्राप्त होकर भी पुनरावृत्ति हो सकती है, ऐसी शंका जिससे अर्जुन के मन में न हो इसलिए श्रीभगवान् दृढ़ होकर अर्जुन को कह रहे हैं—]

हे कौन्तेय !—हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! तुम जो केवल स्वयं शुद्ध हो वह बात नहीं, जिस कुन्ती के गर्भ में तुम जन्मग्रहण किये हो वह कुन्ती अत्यन्त शुद्धकुल में उत्पन्न हुई, अतः तुमने मातृकुल से स्वाभाविक रूप से महानुभवता प्राप्त की । ['अर्जुन' तथा 'कौन्तेय' इन दो सम्बोधनों से श्रीभगवान् सूचित कर रहे हैं कि अर्जुन स्वयं तो शुद्ध-चित्त हैं ही परन्तु उनका उत्पत्तिस्थान भी शुद्ध है । इस प्रकार दोनों प्रकार की शुद्धता ही ज्ञानरूप सम्पत्ति की प्राप्ति के हेतु होती है ।] इस कारण से तुम (अर्जुन) मेरे तत्त्व का (स्वरूप का) ज्ञान प्राप्त करने के लिए सम्पूर्णरूप से योग्य हो । अतः तुम्हारे पुनरावर्त्तन का कोई भय नहीं है । **तु**=किन्तु **माम्**—एकमात्र मुझको अर्थात् केवल एक

परमेश्वर को उपेत्य-प्राप्त होने पर पुनर्जन्म न विद्यते-पुनर्जन्म (पुनरुत्पत्ति) और नहीं होता है। श्लोक में 'तु' शब्द अन्यलोक से ईश्वरलोक की विलक्षणता (वैशिष्ट्य) दीखाने के लिए व्यवहृत हुआ है अथवा यहाँ 'तु' शब्द का 'एव' अर्थ में अर्थात् अवधारणार्थ में (निश्चयता दीखाने के लिए) प्रयोग हुआ है, ऐसा कहा जा सकता है। जो लोग केवलमात्र मुझको ही प्राप्त होकर निवृत्ति (कृतकृतार्थता) प्राप्त किये हैं उनलोगों का कभी पुनर्जन्म (पुनरावृत्ति) नहीं होता है, यही कहने का अभिप्राय है।

तात्पर्य—ब्रह्मलोक सभी लोकों में श्रेष्ठ है। यदि पञ्चाग्नि प्रभृति विद्या के द्वारा ब्रह्मलोक भी प्राप्त होता है तब भी भगवद्‌भक्तिशून्य व्यक्ति को ब्रह्मलोक का भोग शेष होने से संसार में आकर पुनर्जन्म ग्रहण करना पड़ता है। दूसरे जो लोग प्राप्त करते हैं उनलोगों की तो बात ही नहीं है। एकमात्र भगवान् को प्राप्त करने से ही मनुष्यजीवन कृतकृतार्थ हो सकता है क्योंकि तभी जीव जन्ममृत्यु के हाथ से मुक्ति लाभ कर सकता है। अनन्यशरण ही भगवत् प्राप्ति का सर्वापेक्षा सहज तथा निश्चित उपाय है अतः सभी को ही उसका अभ्यास करना कर्तव्य है—यही इस श्लोक का तात्पर्य है।

टिप्पणी (१) मधुसूदन—आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनः—शास्त्र में मुक्ति की व्यवस्था इस प्रकार है। ब्रह्मा जीवन्मुक्त होकर भी प्रारब्धवश ब्रह्मलोक का आधिकारिक पुरुष है। प्रारब्ध क्षय से (उनका आयुष्काल समाप्त होने से) वे मुक्तिलाभ करते हैं एवं उनके साथ साथ जो व्यक्ति भगवान् की उपासना कर ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं एवं वहाँ तत्त्वज्ञान (सम्यग् दर्शन) प्राप्त करने में सक्षम होते हैं वे भी मुक्त हो जाते हैं। उनलोगोंकी और पुनरावृत्ति नहीं होती है—इसे क्रममुक्ति कहा जाता है। इस क्रममुक्ति को लक्ष्य करके ही शास्त्र में कहा गया है 'ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्त्तते' (छा० उ० ८।१५।१) अर्थात् वे ब्रह्मलोक प्राप्त होते हैं—और लौट नहीं आते हैं। 'अनावृत्तिः शब्दात्' (ब्र० सू० ४।४।१२) अर्थात् ब्रह्मलोक प्राप्त हुए व्यक्तियों की पुनरावृत्ति नहीं होती है क्योंकि शब्द अर्थात् श्रुति वही कहती है। पुराण में भी कहा गया है—'ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे। परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्' ॥ [परस्यान्ते—ब्रह्मा का आयु समाप्त होने पर कृतात्मानः—ब्रह्मभाव (ब्रह्मस्वरूपता) प्राप्त हुए हैं इस प्रकार ब्रह्मज्ञ पुरुष।] किन्तु जो लोग सगुण ब्रह्मोपासना न कर केवल पंचाग्नि विद्या प्रभृति के प्रभाव से उस ब्रह्मलोक को प्राप्त हुए हैं उनलोगों का केवल उस लोक का सुख भोग ही होता है, तत्त्वज्ञान प्राप्त करने की योग्यता नहीं

रहती है, अतः मुक्ति भी नहीं होती है। अतः उस लोक का भोग समाप्त होने पर उनलोगों का पुनरावर्त्तन (पुनर्जन्म) होता है। ऐसे व्यक्ति को लक्ष्य करके ही वर्तमान श्लोक में कहा गया है कि ब्रह्मलोक से भी पुनरावर्त्तन होता है। जो लोग पंचाग्नि विद्या प्रभृति के द्वारा ब्रह्मलोक प्राप्त होते हैं उनलोगों के सम्बन्ध में श्रुति में अन्यत्र कहा गया है, "इमं मानवमावर्तं नाऽऽवर्तन्त इति' अर्थात् वे लोग इस मानव आवर्त्त में और आवर्तित नहीं होते हैं अर्थात् इस मनुकल्प में (मन्वन्तर में) पुनः इस लोक में लौट नहीं आते हैं किन्तु अन्य कल्प में आते हैं अर्थात् अन्य कल्प में पुनर्जन्म प्राप्त होते हैं। (उस श्रुति वचन में 'इह' एवं 'इमम्' इन दोनों पदों के द्वारा ही ऐसा अभिप्राय व्यक्त हुआ है)।

(२) श्रीधर—सभी लोकों से पुनरावृत्ति होती है इसे दीखाते हुए यही अब निर्धारण (निश्चय) करते हैं-आब्रह्मभुवनात् लोकाः पुनरावर्तिनः- ब्रह्मा का भुवन (वासस्थान) ब्रह्मलोक पर्यन्त सभी लोक पुनरावर्तनशील हैं क्योंकि ब्रह्मलोक भी विनाशी है। अतः वहाँ के निवासियों में से जिनका ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ है, उनका पुनर्जन्म अवश्यम्भावी है। किन्तु जो लोग इस प्रकार उपासना किये हैं जिनका फल है क्रममुक्ति वे उन उपासनाओं के द्वारा ब्रह्मलोक प्राप्त होते हैं एवं वहाँ जिनमें ज्ञान उत्पन्न हो गया है उन्हीं की ब्रह्मा के साथ मुक्ति होती है—अन्य की नहीं। शास्त्र में कहा है—'ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसंचरे। परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्' ॥ अर्थात् प्रलयकाल उपस्थित होने पर जब ब्रह्मा की आयु समाप्त हो जाती है उस समय जो ज्ञानलाभ कर कृतकृत्य हो गये हैं, वे ब्रह्मा के साथ परम पद में प्रविष्ट हो जाते हैं। (उक्तवाक्य में) 'परान्त' शब्द का अर्थ है ब्रह्मा की परम आयु का अन्त (शेष) तथा 'कृतात्मा' शब्द का अर्थ है जिनके मन की वृत्ति ब्रह्मभाव से युक्त हो गयी है। इसका तात्पर्य यह है कि जिनको याग-यज्ञादि अथवा व्रतादि कर्मों द्वारा ब्रह्मलोक की प्राप्ति हुई उनकी मुक्ति नहीं होती। तु—किन्तु माम् उपेत्य पुनर्जन्म न विद्यते—मुझ परमेश्वर को प्राप्त होकर जो मुझमें ही स्थित रहते हैं उनका पुनर्जन्म नहीं होता है, यह भाव है।

(३) शंकरानंद—इस प्रकार ब्रह्मभाव प्राप्त ब्रह्मवेत्ताओं की पुनरावृत्ति का अभाव प्रतिपादन कर उनके विना अन्यजन यदि श्रुतिशून्य (अथवा श्रुति सम्पन्न होकर भी असम्यग् दर्शन युक्त अर्थात् तत्त्वज्ञान हीन रहे) एवं अपने से भिन्न अन्य लोक को प्राप्त कर ले तब उनकी पुनरावृत्ति है ही, ऐसा सूचन कर भगवान् ब्रह्मवेत्ताओं की मुक्ति की सिद्धि में कोई संशय

रह नहीं सकता अतः यतियों की सम्यग्दर्शन की सिद्धि के लिये अवश्य प्रयत्न करना कर्तव्य है, यह सूचित करने के लिये उक्त अर्थ का ही पुनः दृढ़ीकरण कर रहे हैं।

यहाँ 'ब्रह्म' शब्द के द्वारा चतुर्मुख ब्रह्मा को ही सूचित किया गया है क्योंकि 'सहस्र युग तक' ब्रह्मा का ही आयुष्यकाल का निर्णय श्रुतिने किया। आब्रह्मभुवनात्—(जहाँ भूतसकल उत्पन्न होते हैं अथवा विद्यमान रहते हैं वह भुवन है, ब्रह्मा का भुवन ब्रह्मभुवन अर्थात् सत्यलोक) उस ब्रह्मलोक से लेकर समस्त लोकाः पुनरावर्तिनः—लोक पुनरावर्तनशील है। पुण्यवशतः प्राप्त लोको से पुनरावर्तन कराता है अर्थात् पुण्य के क्षय होने पर पुनर्जन्म ही प्राप्त कराता है इसलिए इन लोकों में गये हुए जीवों की पुनरावृत्ति है ही क्योंकि 'यावत्संपातम्' ('यावत् पुण्यक्षय') एवं 'नाकस्य पृष्ठे ते सुकृते अनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति' ['नाक के (सत्यलोक के) पृष्ठ में पुण्य का अनुभव कर (भोगकर) इस लोक में अथवा इसकी अपेक्षा हीनतर लोक में प्रवेश करते हैं अर्थात् जन्म लेते हैं] ऐसी श्रुति है। नाक शब्द का अर्थ है जहाँ अक अर्थात् दुःख नहीं है ऐसी व्युत्पत्ति से सत्यलोक को ही नाक मानना युक्त है, क्योंकि इससे अन्यत्र स्थित जीवों का कभी दैत्य से तथा कभी प्रलयाग्नि से दुःख का सम्भव है। इसलिए उक्त श्रुति के बल से सत्यादि लोकों से जो सब जीव जाते हैं उनको पुनरावृत्ति प्रामाणिक ही है (श्रुति प्रमाण से सिद्ध है)।

शंका—उक्त श्रुति के बल से ब्रह्मभाव प्राप्त ब्रह्मज्ञानियों की भी पुनरावृत्ति स्वीकार की जा सकती है ? **समाधान**—नहीं, यह शंका युक्त नहीं है, क्योंकि 'तदधिगमउत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ' ('उसका ज्ञान होने से प्राक्तन (पिछले) एवं भावी पापसमूह का सम्बन्ध नहीं रहता है') 'यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते' ('जिसप्रकार अग्नि में प्रक्षिप्त हुआ इषीकातूल जल जाता है, उस प्रकार ही उनकी सभी पापराशि जल जाती हैं') 'तस्यैव स्यात्पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन' (उनके स्वरूप का विशेषरूप से ज्ञाता होओ, उनको जानने से पापकर्म में लिप्त नहीं होते हैं') 'सर्वं पाप्मानं तरति' (समस्त पापों से त्राण पाता है) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा ब्रह्मविद् के समस्त पापराशि का दाह एवं लेप का अभाव प्रतिपादित किया गया है, इसलिए 'कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव प्रलीयते' (कर्म के द्वारा जन्तु (जीव) उत्पन्न होता है एवं कर्म के द्वारा ही मर जाता है) एवं प्रात्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम्। तस्माल्लोकात्

पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे' (यह जो कुछ यहाँ करता है, उस कर्मफल को परलोक में प्राप्त होकर वहाँ से पुनः इस लोक में कर्म करने के लिए आता है) इत्यादि श्रुति एवं स्मृतियों में जिस प्रकार कहा गया उस प्रकार से जीवों का कर्म निःशेष दग्ध नहीं हुए हैं उनकी ही शेष कर्मसमूह के अनुभवके लिए पुनरावृत्ति होती है, परन्तु जिन ब्रह्मविदों के ज्ञानरूप अग्नि के द्वारा अशेष कर्मसमूह निःशेष दग्ध हुए हैं उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती है। उनकी आवृत्ति के लिए कर्म का शेष न रहने के कारण अर्थात् अज्ञानरूप मूल सहित सभी कर्म नष्ट होने के कारण पुनरावृत्ति प्रामाणिकी नहीं है एवं 'न च पुनरावर्त्तते' ('पुनरावर्तन नहीं होता है') इत्यादि श्रुतिवाक्य द्वारा अनेक बार उनका निषेध भी किया गया है। उनका पुनरावर्तन नहीं होता है—इसप्रकार 'तु' शब्द के द्वारा व्यावृत्ति करते हुए हे कौन्तेय—कौन्तेय अर्थात् शुद्ध कुलोत्पन्न अर्जुन माम्—मुझको सत्य, ज्ञान आदि लक्षणयुक्त सदानन्दैकरस परमात्मा को उपेत्य—प्राप्त होकर पूर्णब्रह्म स्वरूप में स्थित ब्रह्मवित्तम का तु—तो पुनर्जन्म—पुनर्जन्म अर्थात् पुनरावृत्ति न विद्यते—नहीं होता है अर्थात् विद्वान् मुझको प्राप्त होकर पुनर्जन्म प्राप्त नहीं होता है। ['विद् सत्तायाम्' यह 'विद्' धातु का अर्थ है प्राप्ति अथवा लाभार्थक 'विद्' धातुको 'दिवादिगण' का अन्तःपाती समझना चाहिए]।

(४) नारायणी टीका—केवल सगुण उपासनादि से ही ब्रह्मलोक प्राप्त होता है ऐसी बात नहीं है। भगवान् की उपासना में तत्पर न रहने पर भी पञ्चाग्नि विद्या प्रभृति से भी केवल पुण्य के फल का भोग करने के लिए ब्रह्मलोक में गमन होता है। किन्तु इस प्रकार लोगों को पूर्वोक्त क्रममुक्ति नहीं प्राप्त होती है। पुण्य का क्षय होने पर उनको संसार में लौटकर पुनः जन्म लेना पड़ता है। यदि पुण्य के फल से ब्रह्मा के आयुष्काल तक ब्रह्मलोक में ही रह जायें तो महाप्रलय में ब्रह्मलोक का भी प्रलय (नाश) होने के कारण उस स्थान का भोगसुख अनित्य अर्थात् विनाशशील ही होगा। यदि ब्रह्मलोक ही अनित्य है एवं उसमें जाकर भी संसार में लौटना होता है तो दूसरे लोकों की तो बात ही क्या है ? इसलिए भगवान् स्पष्ट कर कह रहे हैं कि इसलोक में और नहीं तो ब्रह्मलोक में मेरे शुद्धचैतन्यस्वरूप का ज्ञान लाभ कर जब तक मुझको प्राप्त नहीं करोगे अर्थात् मेरे साथ एक नहीं हो जाओगे तबतक पुनर्जन्म होगा ही अर्थात् मेरी स्वरूपता की प्राप्ति करना ही संसार तथा पुनर्जन्म से मुक्तिलाभ का एकमात्र उपाय है—अन्य कोई उपाय नहीं है। [ब्रह्मलोक तथा सभी लोकों से ही पुनरावर्त्तन होता है इसका कारण क्या है ? इसका कारण

यह है कि वे सब लोक ही काल के द्वारा परिच्छिन्न हैं। प्रश्न होगा काल के द्वारा वे कैसा परिच्छिन्न है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—]

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ १७ ॥

अन्वय—सहस्रयुगपर्यन्तं ब्रह्मणः यत् अहः (तत् ये) विदुः (तथा) युगसहस्रान्तां (ब्रह्मणः) रात्रिं (ये) विदुः, ते जनाः अहोरात्रविदः ।

अनुवाद—जो लोग ब्रह्मा के दिन को एक सहस्र युग पर्यन्त स्थायी एवं ब्रह्मा की रात्रि को एक सहस्र युग में समाप्त होने वाली है ऐसा (योगबल से) जानते हैं, वे ही वस्तुतः अहोरात्रवेत्ता हैं (दिन और रात का यथार्थ परिणाम जानने वाले हैं)।

भाष्यदीपिका—सहस्रयुगपर्यन्तं ब्रह्मणः यत् अहः विदुः—[मनुष्य की कालगणना के अनुसार जो दिन एक 'सहस्रयुग पर्यन्त' (अर्थात् एक सहस्र चतुर्युग तक) स्थायी रहता है एवं उसके बाद जिसका अन्त हो जाता है उस दिनको 'सहस्रयुगपर्यन्त' कहा जाता है।] ब्रह्मा अर्थात् प्रजापति वैराज (विराट्) पुरुष का एक दिन एक सहस्र युग (एक सहस्र चतुर्युग) की अवधि वाला है अर्थात् एक सहस्र चतुर्युग में पर्यवसान (अन्त) होनेवाला है ऐसे जो समझते हैं। विष्णुपुराण में कहा गया है 'चतुर्युगसहस्रं तु ब्रह्मणो दिनमुच्यते' अर्थात् सहस्र संख्यक जो चतुर्युग है वही ब्रह्मा का एक दिन है अतः यहाँ 'सहस्रयुगपर्यन्तम्' शब्द का अर्थ है सहस्रचतुर्युगपर्यन्तम् ये विदुः—जो लोग योगबल से ऐसा अवगत हुए हैं। (तथा) युगसहस्रान्तां (ब्रह्मणः) रात्रिं (ये विदुः)—फिर ब्रह्मा की रात्रि को भी इस प्रकार एक सहस्र चतुर्युग में समाप्त होनेवाली है अर्थात् ब्रह्मा के दिन का जो परिणाम है, उनकी रात्रि का भी वही परिणाम है ऐसा जो जानते हैं। ते जनाः—वे लोग अर्थात् वे योगी पुरुष ही अहोरात्रविदः—अहोरात्रज्ञ अर्थात् काल के परिणाम का ज्ञाता हैं। जो लोग केवल सूर्य तथा चन्द्र की गति के अनुसार दिन रात को जानते हैं उनलोगों को वस्तुतः "अहोरात्रविद्" नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि वे लोग अति अल्पदर्शी हैं। [(ब्रह्मलोक के साथ अन्य) सभी लोक ही काल से परिच्छिन्न हैं। इस कारण से ही जो लोग उन लोक को प्राप्त होते हैं वे सभी पुनरावर्तनशील हैं अर्थात् वे लोग संसार में लौटकर पुनर्जन्म ग्रहण करते हैं, यही कहने का अभिप्राय है]।

टिप्पणी (१) श्रीधर—'तपस्विनो दानशीला वीतरागास्तितिक्षवः। त्रिलोक्या उपरिस्थानं लभन्ते शोकवर्जितम्।' अर्थात् तपस्वी, दानशील आसक्ति-

रहित और तितिक्षु मनुष्य पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं स्वर्ग इन तीनों लोकों से ऊपर शोक रहित स्थान को प्राप्त होते हैं—इस प्रकार पुराणवाक्य से यही सिद्ध होता है कि उक्त तीनों लोकों की अपेक्षा महः जनः तपः व सत्य लोक श्रेष्ठ हैं। ब्रह्मलोक पर्यन्त सभी लोक यदि समान रूप से विनाशशील है तो महः इत्यादि लोकों की विशेषता किस प्रकार से रहेगी, ऐसी यदि आशंका हो तो उसके उत्तर में कहा जायगा कि पृथिवी आदि तीनों लोक अल्पकाल तक स्थायी रहते हैं और महः इत्यादि लोक बहुकाल तक स्थायी रहते हैं यहीं विशेषता है। इसे बतलाने के लिये अपने परिणाम से सौ वर्ष की आयुवाले ब्रह्मा के प्रत्येक दिन में त्रिलोकों की उत्पत्ति और प्रत्येक रात में उनका प्रलय होता है, यह दिखाने के लिये ब्रह्मा के दिनरात का प्रमाण वताते हैं सहस्रयुगपर्यन्तं ब्रह्मणः यत् अहः तत् ये विदुः—हजार युग में जिसका अन्त (समाप्ति) होता है इस प्रकार ब्रह्मा का एक दिन है उसे जो लोग जानते हैं। [ब्रह्मा का एक दिन का परिमाण है १००० एक हजार चतुर्युग। कारण विष्णु पुराण में कहा है 'चतुर्युगसहस्रं तु ब्रह्मणो दिनमुच्यते' (वि० पु० ६।३।११) अर्थात् एक हजार चतुर्युग को ब्रह्मा का एक दिन कहा गया है। यहाँ 'ब्रह्मणः' शब्द से महर्लोकादि में निवास करनेवालों का भी लक्ष्य कराने के लिये है) युगसहस्रान्ताम् रात्रिं च ये विदुः—तथा हजार युग में जिसका अन्त हो वह ब्रह्मा की रात्रि है इसको जो योगी योगबल से जानते हैं ते जनाः अहोरात्रविदः—वे (सर्वज्ञ जन) ही दिवारात्रि के तत्त्व को यथार्थरूप से जानने वाले हैं। किन्तु जिन लोगों को केवल चन्द्रमा और सूर्य की गति से ही दिन रात के परिमाण का ज्ञान होता है वे उस प्रकार के दिन रात को जानने वाले नहीं हैं क्योंकि वे लोग अल्पदर्शी है।

ब्रह्मा की कालगणना इस प्रकार की है। मनुष्य का जो एक वर्ष है वह देवताओं का एक दिन-रात है। इस प्रकार के दिन रातों द्वारा पक्ष एवं महीनों की कल्पना कर १२ महीनों का एक वर्ष एवं १२०० दिव्यवर्ष का १ चतुर्युग होता है। ब्रह्मा का १ दिन = १००० एक हजार चतुर्युग एवं उतने ही परिमाण से उनकी एक रात्रि होती है अर्थात् ब्रह्मा की रात्रि = १०००चतुर्युग। इस प्रकार दिन रात पक्ष मास आदि के क्रम से १०० वर्षों तक ब्रह्मा की परम आयु है [एक चतुर्युग=१२,००० दिव्यवर्ष १००० चतुर्युग=१२००० × १००० दिव्यवर्ष=१२०००००० × ३६० मनुष्यवर्ष=ब्रह्मा का एक दिन ४३२,००,००,००० मनुष्यवर्ष ब्रह्मा की १ रात = ४३२००,००,०० ब्रह्मा की १ रात व १ दिन ८६४००,००,०० मनुष्य वर्ष] =८६४ करोड़ वर्ष (मनुष्य)

(२) शंकरानन्द—इस प्रकार अपने स्वरूप को प्राप्त हुए जीवों की

पुनरावृत्ति के अभाव का प्रतिपादन कर अब जो लोग सत्यलोक आदि में नित्यत्व, नित्यसुखत्व एवं अनावर्तित्व बुद्धि से पुण्यकर्म के अनुष्ठान के द्वारा बारंबार गमनागमन कर रहे हैं तथा इस लोक में आकर पुनः पुनः जन्म मरण प्राप्त हो रहे हैं, वे सभी लोग सर्वदा दुःख का ही अनुभव करते हैं एवं सत्यादि लोकों की स्तुतिकारी वाक्यों के द्वारा मोहित होकर अन्धपरम्परा के समान जो अज्ञजन उन सब लोकों में जा रहे हैं उनका अनुसरण कर वे भी जाते हैं कोई भी यहाँ की वस्तुस्थिति का विचार नहीं करता है, और न कोई तप करता है और न कोई वैराग्यसाधन करता है—इस प्रकार अज्ञत्व बहुत ही कष्टदायक है [ऐसा विचार कर भगवान्] उसका सद्सत् विवेक, वैराग्य, असत् का त्याग तथा सत्य के ग्रहण में प्रवृत्ति जिससे हो सके वह सिद्ध करने के लिए काल के द्वारा परिच्छिन्न सत्यादि लोकसमूह का ब्रह्मा के दिन में आविर्भाव एवं रात में तिरोभाव होता है ऐसा वर्णन कर एक दिन-रात में समस्त प्राणियों की उत्पत्ति एवं प्रलय का भी प्रतिपादन करते हैं 'सहस्र' इत्यादि तीन श्लोकों से—जो अहोरात्रविद् ['दैविकानां युगानां च सहस्रपरिसंख्या। ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावती रात्रिरेव च'। ('सहस्र दैविक युग मिलकर ब्रह्मा का एक दिन होता है एवं इतनी ही उनकी रात भी होती है, यह जानना चाहिए) इस वाक्य के द्वारा उक्त रीति से ब्रह्मा के (प्रजापति के) दिन एवं रात्रिकाल का इतना परिमाण, ऐसा जो जानते हैं उनको अहोरात्रविद्—अहोरात्रविद् कहा जाता है अर्थात् ब्रह्मा के दिन-रात का ज्ञाता कहा जाता है।) इस प्रकार अहोरात्रविद् महान् मुनि आदि ब्रह्मणः—ब्रह्मा के अहुः—दिनको सहस्रयुगपर्यन्तम्—सहस्रयुग तक स्थायी अर्थात् ब्रह्मा की आयु की समाप्ति सहस्र दिव्ययुग के अन्त में होती है) यत्—यह विदुः—जानते हैं उस प्रकार ही ते—वे मनु आदि रात्रिम्—रात्रि को भी युगसहस्रान्तां—सहस्र दिव्य युगव्यापी अर्थात् (दिव्य) युगसहस्रपरिमाण वाली के रूप से (सहस्र दिव्य युग के अन्त में नाश-होनेवाली के रूप से) ही जानते हैं। इसलिए भ्रान्त व्यक्तियों के द्वारा नित्यरूप से स्वीकृत सत्यलोक प्रतीति सहस्रयुगपर्यन्त ही है। अतः उक्त प्रकार से सत्यलोक अनित्य होने के कारण सत्यलोक से अन्य 'महः' आदि एवं 'भूः' आदि लोकों के अनित्यत्व एवं अल्पसुखत्व के सम्बन्ध में कहना ही क्या है, यह भाव है।

(३) नारायणी टीका—ब्रह्मा का दिन तथा रात्रि का परिमाण—ब्रह्मा का एक दिन=१००० चतुर्युग=१०००×१२००० मनुष्य का वर्ष (क्योंकि १२००० दिव्य वर्षों में एक चतुर्युग होता है)=१२००००००×३६० (क्योंकि

३६० दिनों में १ वर्ष होता है)=४३२००००००००=४३२ करोड़ वर्ष। इस प्रकार ४३२ करोड़ मनुष्य वर्षों में ब्रह्मा की एक रात होती है अर्थात् ८६४ करोड़ वर्षों में ब्रह्मा का अहोरात्र (१ दिन और १ रात) होता है। ब्रह्मा इस हिसाब से १०० वर्ष तक जीवित रहते हैं एवं ब्रह्मलोक (अथवा सत्यलोक) इस काल तक रहकर बाद में लय हो जाते हैं। इस प्रकार भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः एवं सत्य इन सात लोकों में से कोई लोक भी चिरस्थायी नहीं है। ब्रह्मलोक अन्यलोक की अपेक्षा बहुकाल तक स्थायी है इस कारण से ब्रह्मलोक को श्रेष्ठ कहा जाता है। तथापि सभी लोक ही नश्वर हैं, एकमात्र परब्रह्म ही नित्य तथा शाश्वत है। जबतक उस सनातन स्वरूप की प्राप्ति न हो तबतक जीव को संसार चक्र में भ्रमण करना पड़ता है। तपस्विनो दानशीला वीतरागाः तितिक्षवः। त्रैलोकस्योपरि स्थानं लभन्ते शोकवर्जितम्' ॥ अर्थात् तपस्वी दानशील विगतराग एवं तितिक्षाशील व्यक्तिगण त्रिलोक के ऊपर महः, जनः, तपः तथा सत्य लोक में शोकशून्य स्थान लाभ करते हैं इत्यादि पुराणोक्त वाक्य के द्वारा त्रिलोक (पृथ्वी, अन्तरीक्ष तथा स्वर्गलोक) की अपेक्षा महर्लोकादि का उत्कृष्टत्व सूचित हुआ है। प्रश्न हो सकता है कि यदि सभी लोक ही विनाशी है तो महः, जनः, तपः, सत्य प्रभृति लोकों की विशेषता क्या है ? उत्तर में कहा जा सकता है कि अल्पकाल स्थायी पृथ्वी आदि लोकों की अपेक्षा महर्लोकादि दीर्घकालस्थायी हैं, यही उनकी विशेषता है। सबसे दीर्घकालस्थायी जो ब्रह्मलोक है जिसकी प्रत्येक रात में पृथ्वी आदि का लय होता है एवं फिर दिन में उनकी उत्पत्ति होती है, उस ब्रह्मलोक को प्राप्त करने पर भी यदि वहाँ मुक्तिलाभ न करके संसार में लौट आना पड़े तो स्वर्गादि लोक प्राप्त कर जो पुनर्जन्म होगा, इसमें संशय क्या है ? इसे ही स्पष्ट करने के लिए एवं ईश्वर की (परब्रह्म की) प्राप्ति (परब्रह्म के साथ ऐक्यानुभव) का माहात्म्य वर्णन करने के लिए ब्रह्मा के अहोरात्र का परिमाण यहाँ वर्णन किया गया है। ब्रह्मा के दिनरात का परिमाण इस प्रकार जो जानते हैं अर्थात् ब्रह्मा की आयु कोटि कोटि वर्षों पर्यन्त स्थायी होनेपर भी वह सीमित एवं विनाशशील ही है यह जो लोग ठीक ठीक जानते हैं उनका इहलोक में अथवा परलोक में सभी वस्तु के प्रति वैराग्य होना स्वाभाविक है क्योंकि विवेक-दृष्टि से वे सभी अनित्य (विनाशशील) हैं। इस प्रकार वैराग्य न होने पर भगवत् प्राप्ति के लिये तीव्र संवेग उत्पन्न नहीं होता है। भगवान को प्राप्त करना ही (उनके साथ एक होना ही) मनुष्य जीवन का परम पुरुषार्थ है इस प्रकार विवेकबुद्धि का तभी उदय होता है जब जागतिक सब विषय अनित्य व दुःखदायक हैं यह निःसंशयरूप से निश्चित होता है।

[अब प्रजापति के (ब्रह्मा का) दिन तथा रात में क्या होता है, वह कहा जा रहा है—]

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥

अन्वय—अहरागमे अव्यक्तात् सर्वाः व्यक्तयः प्रभवन्ति रात्र्यागमे तत्र अव्यक्तसंज्ञके एव प्रलीयन्ते ।

अनुवाद—ब्रह्मा का दिन उपस्थित होने पर अव्यक्त से समस्त चराचर (स्थावर जंगम) व्यक्त पदार्थ (समस्त प्राणी) उत्पन्न होते हैं एवं ब्रह्मा की रात्रि के आगमन होनेपर (अर्थात् ब्रह्मा के शयनकाल में) पुनः समस्त प्राणी उस अव्यक्त में ही प्रकृष्टरूप से लय प्राप्त होते हैं ।

भाष्यदीपिका । अहरागमे—दिन का आगमन होने से (ब्रह्मा के दिन के आरम्भकाल में अर्थात प्रजापति ब्रह्मा) के जागरणकाल में अव्यक्तात्—यहाँ अव्यक्त पद का अर्थ जगत की अव्याकृत अवस्था (प्रधान या प्रकृति) नहीं है क्योंकि यहाँ ब्रह्मा के दिनरात में कैसी सृष्टि तथा प्रलय होते हैं उसके सम्बन्ध में कहा जा रहा है । यहाँ अव्यक्त पद का अर्थ है प्रजापति की निद्रावस्था । अतः 'अव्यक्तात्' शब्द का अर्थ है—निद्रावस्थापन्न ब्रह्मा प्रजापति से व्यक्तयः सर्वाः—सभी व्यक्ति अर्थात् स्थावर जंगमरूप प्रजाएँ । जो व्यक्त (प्रकट) होता है उसका नाम व्यक्ति है [अर्थात् शरीर एवं विषय इत्यादि सब भोगभूमियाँ (मधुसूदन) ।] प्रभवन्ति—अभिव्यक्त (प्रकट) होती हैं अर्थात् व्यवहार योग्यरूप में अभिव्यक्त होती हैं । 'प्रभवन्ति' शब्द के द्वारा सृष्टि की जो व्यवहारसत्ता है वह शशशृंग का या वन्ध्यापुत्र के समान पूर्ण-रूप से असत् नहीं है, यह सूचित हुआ है ।

रात्र्यागमे—रात्रि उपस्थित होनेपर अर्थात् उस प्रजापति ब्रह्मा के निद्राकाल में पूर्वकथित समस्त व्यक्तियाँ अव्यक्तसंज्ञके एव—(जिससे आविर्भूत हुई थी) उस पूर्वोक्त अव्यक्त नामक कारणावस्था में अर्थात् पूर्व-कथित निद्रावस्थापन्न प्रजापति में ही प्रलीयन्ते—प्रकृष्टरूप से लय प्राप्त (तिरोहित) होती हैं ।

टिप्पणी । (१) श्रीधर—(पूर्वश्लोक मे ब्रह्मा की परमायु का परिमाण कहा गया) इससे क्या होगा ? इसके उत्तर में कहते हैं—अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्ति अहरागमे—कार्य का कारणात्मक स्वरूप (कारण का रूप)

अव्यक्त है। उस कारणरूप अव्यक्त से जो व्यक्त (भलीभाँति प्रकट) होती है वे व्यक्तियाँ हैं। अतः 'व्यक्तयः' इस शब्द का अर्थ है चराचर समस्त भूत (स्थावरजंगमात्मक सभी प्राणी)—वे सब उस अव्यक्त से उत्पन्न होते हैं। कब वे उत्पन्न होते हैं ? (उत्तर) जब ब्रह्मा के दिन का आरम्भ होता है। उसी प्रकार रात्र्यागमे इत्यादि—रात्रि के आरम्भकाल में ब्रह्मा जब शयन करते हैं तब सब व्यक्ति (स्थावरजंगमरूप सर्वभूत) अव्यक्तनामक कारण स्वरूप में विलीन हो जाते हैं। अथवा [पूर्ववर्ती श्लोक एवं इस श्लोक का अन्वय करके इस प्रकार व्याख्या हो सकती है] वे रात दिन को जाननेवाले हैं, ऐसा विधान नहीं किया गया, किन्तु जो लोग ब्रह्मा के दिन को इस प्रकार जानते हैं कि ब्रह्मा के दिन के आरम्भ में अव्यक्त से व्यक्ति उत्पन्न होता है एवं रात्रिको इस प्रकार जानते हैं कि रात्रि के आरम्भ में सब व्यक्ति (जिससे उत्पन्न हुए थे उस अव्यक्त नामक कारण में) विलीन होती हैं वे प्रसिद्ध दिन रात को जानने वाले हैं।

(२) शंकरानंद—इसप्रकार सत्य आदि लोकों का अनित्यत्व प्रतिपादन कर अब उस लोक में गये हुए प्राणियों को अत्यन्त दुःख ही प्राप्त होता है, ऐसा कहते हैं—

कार्य के विना अन्य किसी के द्वारा जो व्यक्त नहीं होता है वह अव्यक्त है—ब्रह्मा की सुषुप्ति अविद्यात्मक है—वह बुद्धि आदि के समान व्यक्त नहीं होती है, इसलिए अव्यक्त कहा जाता है। जगत् का मूल कारण अव्यक्त के समान ब्रह्मा के सुषुप्त नामक अव्यक्त भी सम्पूर्ण पदार्थों की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय का कारण है क्योंकि दोनों में अव्यक्तत्व समान है। अहः आगमे—प्रजापति के दिन समागमे अर्थात् दिन के प्राप्त होने से उस कहे गए लक्षण युक्त अव्यक्तात् व्यक्तयः—अव्यक्त से व्यक्तिगण (प्रत्यक्षादि प्रमाण से जो व्यक्त होते हैं अर्थात् गृहीत होते हैं वे व्यक्ति हैं) अर्थात् सर्वाः—सकल स्थावर जंगम आदि कोटि कोटि प्राणि समुदाय प्रभवन्ति–उत्पन्न होते हैं अर्थात् बीज से अंकुर के समान जन्म लेते हैं। उसप्रकार ब्रह्मा का रात्र्यागमे —रात्रि आने पर अर्थात् रात्रि प्राप्त होने पर तत्र एव अव्यक्तसंज्ञके—उस अव्यक्त नामक ब्रह्मा की सुषुप्ति में ही वे सब प्रलीयन्ते—लीन हो जाते हैं। अर्थात् बीज में व्रीहि आदि के समान सम्यग्रूप से लीन हो जाते हैं (अदर्शन को प्राप्त होते हैं। इसके द्वारा यही सूचित हो रहा है कि प्रजापति का दिन एवं रात्रि उभय अवस्था में समस्त प्राणियों को जो जन्ममरणरूप अनन्त दुःख भोगना पड़ता है वह अपरिहार्य है ॥ १८ ॥

(३) नारायणी टीका—ब्रह्मा के दिन में क्या कार्य होते हैं एवं रात में (प्रलय में) क्या क्या कार्य होते है, वह कहा जा रहा है। (१) ब्रह्मा के दिन को कल्प कहा जाता है एक कल्प ब्रह्मा का एक दिन=४३२ करोड़ मनुष्य वर्ष। सत्य, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग चार युग=१ महायुग है। एक कल्प (ब्रह्मा का १ दिन)=१००० महायुग=१४ मन्वन्तर। अतः १ मन्वन्तर=७१$\frac{3}{7}$ महायुग अर्थात् एक मन्वन्तर में ७१ बार सत्ययुग, ७१ बार त्रेता, ७१ बार द्वापर, ७१ बार कलियुग होते हैं। १४ मनु एवं १४ इन्द्र ब्रह्मा के १ दिन में ब्रह्मांड का शासन करते हैं एवं ब्रह्मा के रात्रि भाग में उन सब का प्रलय हो जाता है। प्रलय प्रधानतः तीन प्रकार के हैं (१) नित्यप्रलय—प्राणियों के प्रतिदिन की सुषुप्ति अवस्था को नित्यप्रलय कहा जाता है। (२) प्राकृतिक प्रलय—(क) मन्वन्तर प्रलय—मनु परिवर्तन होने के समय में जो प्रलय होता है। (ख) अवान्तर प्रलय—प्रतियुग (सत्य, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग) आरम्भ काल में जो अन्य युग का प्रलय होता है (ग) दैनन्दिन प्रलय—ब्रह्मा की रात्रि उपस्थित होने से अर्थात् ब्रह्मा के सुषुप्ति काल में जो प्रलय होता है (घ) महाप्रलय—ब्रह्मा का आयुष्काल शेष होने पर जो प्रलय होता है। (३) आत्यन्तिक प्रलय—तत्त्वज्ञान प्राप्त कर ब्रह्मत्व प्राप्ति या भगवत्प्राप्ति (मोक्षप्राप्ति) होने से और पुनर्जन्म नहीं होता है इसलिये उसे आत्यन्तिक प्रलय कहा जाता है—यही परमपुरुषार्थ माना जाता है।

प्रश्न होगा कि ब्रह्मा के जागरणकाल में जो भूतवर्ग जन्मग्रहण कर ब्रह्मा के निद्राकाल में प्रलीन हो जाते हैं, ब्रह्मा का जब पुनः दिन आता है अर्थात् जागरण होता है तब क्या अन्य भूतवर्ग जन्मग्रहण कर पुनः उस दिन के बाद ब्रह्मा की रात्रि में (अर्थात् निद्राकाल में) प्रलय प्राप्त होते हैं ? यदि ऐसा हो तब तो ब्रह्मा के प्रति अहोरात्र में अर्थात् प्रतिकल्प में भूतसमूहों का भिन्नत्व रहने के कारण अकृताभ्यागम (न किये कर्मों का फल मिलना) तथा कृतविप्रणाश (किये हुए कर्मों का पूर्णरूप से नाश अर्थात् उनका फल न मिलना) रूप दोष का प्रसंग उपस्थित होगा। इसलिए इस दोष का परिहार करने के लिए प्रतिकल्प में भूतसमूह एक (अभिन्न) ही होगा, यह स्वीकार करना पड़ेगा। अविद्यादि पंचक्लेश [अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश (मृत्युभय) से कर्माशय की सृष्टि होती है उसके वशीभूत होकर प्राणी पुनः पुनः जन्म लाभ करते हैं तथा प्रारब्ध भोग के पश्चात् मृत्यु के मुख में चले जाते हैं अर्थात् जन्म मृत्यु के प्रवाह में चलते रहते हैं

(पातञ्जलयोगसूत्र साधनपाद सूत्र ३-१५ द्रष्टव्य है)]। यदि प्रतिकल्प में पूर्व पूर्व कल्पों से भिन्न प्राणियों की उत्पत्ति हो तब (क) जो कर्म नहीं किया उसके कर्म का फल भोगना पड़ता है। यह सर्व प्रकार से अयुक्त है। यदि पूर्व कल्प के जीव परवर्ती कल्प में जन्म न ले तो उनके द्वारा किये हुए कर्म का कोई फल प्राप्त नहीं होगा अतः 'कृतविप्रणाश' (कृतकर्मों का विशेषरूप से एवं प्रकृष्टरूप से नाश) का दोष उपस्थित होता है। ऐसा होने पर (ग) बन्ध तथा मोक्षप्रतिपादक शास्त्र वाक्यों की सफलता नहीं रहेगी क्योंकि उन वाक्यों से शुभ कर्म में प्रवृत्ति होने पर भी फिर कर्मकर्ता का जन्म न होने के कारण उन कर्मों का फल नहीं मिलेगा। (घ) अविद्यादि पञ्चक्लेश ही सभी कर्मों का मूल है एवं ये मूल रहने से ही प्राणियों का धर्म तथा अधर्म रूप कर्म संस्कार का उद्भव होता है एवं उस कर्म से वशीभूत होकर प्राणिवर्ग अस्वतंत्र होकर (अवश होकर) बारंबार उत्पन्न हो-होकर लय, जन्म तथा मृत्यु अनुभव करते हैं अर्थात् परिणामशील संसार में प्राणी अस्वतंत्र तथा अवश होकर जन्ममृत्यु के प्रवाह में चलते रहते हैं। इसलिए उनके विवेक का उदय होने से ही संसार के प्रति धिक्कार की भावना आने पर ही संसार के प्रति वितृष्णा की भावना का उदय होती है (एवं उस वैराग्य तथा अभ्यास द्वारा मुक्ति लाभ करना सम्भव है)। किन्तु यदि ब्रह्मा की रात्रि में एक प्रकार से प्राणियों का लय होता एवं दिन में दूसरे प्रकार के प्राणियों का आविर्भाव होता तो ऐसा वैराग्य सम्भव नहीं होता। अतः (क) अकृताभ्यागम दोष तथा (ख) कृतप्रविनाश दोष का परिहार करने के लिए (ग) बन्ध तथा मोक्षशास्त्र में प्रवृत्ति की सफलता दिखाने के लिए एवं (घ) 'अविद्यादि पञ्चक्लेशमूलक कर्म संस्कारों के वश में पड़कर पराधीन हुआ प्राणीसमुदाय बारंवार उत्पन्न हो-होकर लय हो जाता है'—इसप्रकार कहकर संसार के सम्बन्ध में सभी का ही जिससे वैराग्य उत्पन्न हो उसे दिखलाने के लिए भगवान् अब कह रहे हैं—]

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥

अन्वय—हे पार्थ ! एव अयं भूतग्रामः भूत्वा भूत्वा रात्र्यागमे अवशः प्रलीयते पुनः अहरागमे (अवशः) प्रभवति।

अनुवाद—हे पार्थ ! पूर्वकल्प में जो जीवसमुदाय था वही (भूतसमूह) बारंबार जन्मलाभ कर (उत्पन्न हो होकर) ब्रह्मा की रात्रि आने पर (उस

अव्यक्त में) लीन हो जाता है। पुनः ब्रह्मा का दिन आने पर वे ही अवश होकर (कर्मादि के परतंत्र अर्थात् वशीभूत होकर) पुनः उत्पन्न होते हैं।

भाष्यदीपिका—सः एव अयं भूतग्रामः भूत्वा भूत्वा—(जो पहले कल्प में थे वे ही दूसरे नहीं भूतसमुदाय (स्थावर तथा जंगमरूप भूतों का समुदाय) ब्रह्मा के दिन के आरम्भ में पुनः पुनः उत्पन्न होकर (बारंबार उत्पन्न हो होकर) [जो पहले नहीं थे वे उत्पन्न हुए हैं ऐसा कहने पर असत् की उत्पत्ति (असत् कार्यवाद) स्वीकार करना पड़ेगा किन्तु यह युक्ति-विरुद्ध है। श्रुति में भी कहा गया है 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् दिवञ्च पृथिवीं चान्तरीक्षमथो स्वः' अर्थात् विधाता ने पहले के समान ही चन्द्र, द्युलोक, पृथ्वी, अन्तरीक्ष एवं स्वर्गलोक प्रभृति की रचना की अर्थात् पूर्वकल्प में भी उनकी सृष्टि उसी प्रकार ही हुई है।] राज्यागमे—ब्रह्मा की रात उपस्थित होने पर अवशः प्रलीयते—अस्वतन्त्र (अवश) होकर [अर्थात् अविद्या काम, कर्म, प्रभृति के अधीन होकर (मधुसूदन)] भूतसमुदाय प्रलीन होते हैं—तिरोहित होते हैं पुनः अहरागमे—पुनः (फिर) ब्रह्मा का दिन आने पर अर्थात् ब्रह्मा के जागरण काल में अवशः प्रभवति—उसप्रकार अवश होकर (अस्वतन्त्र) होकर उत्पन्न होते हैं। [इस प्रकार जगत् का प्रवाह अविच्छिन्नरूप से चलता रहता है। यही कहने का अभिप्राय है। 'समान-नामरूपत्वादावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च' अर्थात् प्रत्येक कल्प में समान नाम और रूप वाले होने पर भी सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय स्वीकार करने में कोई विरोध नहीं है क्योंकि ऐसा देखा गया है एवं ऐसी ही स्मृति की उक्ति है इस न्याय से भी यही बात सिद्ध होती है (मधुसूदन)। 'भूत्वा भूत्वा' शब्दों का तात्पर्य यह है कि ब्रह्मा के दिन में जीवसमुदाय की बारंबार जन्म व मृत्यु होती है किन्तु उनकी रात्रि आने पर समस्त सृष्टि का प्रलय ही हो जाता है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[ब्रह्मा का दिन आने पर अर्थात् प्रत्येक कल्प में यदि नवीन जीवसमुदाय की सृष्टि हो तो] वहाँ कृतनाश (किये हुए कर्मों के नाश) एवं अकृताभ्यागम (विना किये हुए कर्मों के आगम) की शंका उत्पन्न होगी उसका निवारण करते हुए एवं जिससे सृष्टि के प्रति जीव का वैराग्य उत्पन्न हो इसलिये [जब तक परमात्मा का साक्षात्कार न मिले तब तक] सृष्टि और प्रलय के प्रवाह अविच्छिन्नरूप से चलनेवाला है यह अब दिखाते हैं।

स एव अयं भूतग्रामः—चराचर (स्थावर जंगमरूप) भूतों का (प्राणियों का) ग्राम (समुदाय) जो पहले (पूर्व पूर्व कल्पों में) था वही

भूत्वा भूत्वा (ब्रह्मा के दिन के आरम्भ में) बारंबार उत्पन्न हो होकर रात्र्यागमे प्रलीयते—रात आने पर प्रलीन होता रहता है। अहरागमे अवशः प्रभवति—फिर दिन के आरम्भ में अवश (कर्मादि के परतन्त्र अर्थात् अधीन) होकर पुनः उत्पन्न होता है। [जो जीवसमुदाय पहले कल्प में था वही परवर्ती कल्प में उत्पन्न होता है—अन्य (दूसरे) नहीं यह कहने का अभिप्राय है]।

(२) शंकरानंद—शंका—तरंग बुद्बुद आदि के समान जो जो प्राणी जब जब जन्म लेकर जिस जिस दुःख का अनुभव करता है, वह वह दुःख उनका ही होता है, उनसे भिन्न अन्यकाल में जन्म प्राप्त एवं भविष्य में जन्म लेने वाले नवीन प्राणियों को नहीं होता है।

समाधान—नहीं, यह शंका युक्त नहीं है, क्योंकि इस विषय में प्रश्न होगा कि जो पहले था हा नहीं एवं इस समय में उत्पन्न हुआ है उसमें जा सुख दुःख की विचित्रता प्रत्यक्ष रूप से उपलब्ध होती है, वह काल का स्वभाव अथवा प्राणीका स्वभाव अथवा देश का स्वभाव अथवा द्रव्यका स्वभाव अथवा आधुनिक (इस जन्म के) कर्म का स्वभाव है ? प्रथम पक्ष तो युक्त नहीं है क्योंकि शीत, वात आदि के समान एक काल में ही सबको उनकी (सुख दुःखादि की) प्राप्ति का प्रसंग उपस्थित होगा। द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है क्योंकि श्यामत्व, रक्तत्व आदि के समान सर्वदा ही सुख या दुःख की प्राप्ति का प्रसंग आयगा। तृतीयपक्ष भी युक्त नहीं है क्योंकि सभी को ही सर्वदा उनकी प्राप्ति का प्रसंग उपस्थित होगा। चतुर्थ पक्ष भी युक्त नहीं है क्योंकि एक ही महानदी के जल पीनेवाले के नर, पशु मृग, पक्षी आदि को सदा दुःख की विचित्रता प्राप्त हो जायगी। पंचम पक्ष भी युक्त नहीं है क्योंकि अकर्मी बछुवे को कर्म नहीं करने पर भी सुख आदि के अभाव दुःख का प्रसंग आयगा। तब पूर्वकर्मवशतः ही ऐसा होता है ऐसा यदि कहो तो यह भी युक्त नहीं है क्योंकि पूर्व में असत् पदार्थ के जन्म को तुमने स्वीकार किया, अतः तुम्हारे मत में पूर्वजन्म के कर्म का प्रसंग नहीं है। तुम प्रत्यक्ष प्रमाण-वादी हो, इसलिए तुमको प्रत्यक्ष से जो सुख दुःख का वैचित्र्य उपलब्ध होता है उसकी गति कहनी चाहिए। यदि कहो कि सुख आदि की विचित्रता के प्रत्यक्ष ज्ञान सम्बन्ध में अन्य कोई गति न देखकर मैं जीवादि का पूर्वमें सद्भाव जीवादि पूर्व में थे यह अंगीकार कर लेता हूँ। इसके उत्तर में भगवान्के कहने का अभिप्राय यह है तब तो यह मेरा इष्ट ही है क्योंकि इस प्रकार असत् वादी को जीव एवं जगत् के पहले (पूर्वकल्प में) सद्भाव था वह अंगीकार कराने के लिए, कर्म एवं मोक्ष शास्त्र में मुमुक्षु की प्रवृत्ति सिद्ध करने के लिए,

जीव जैसा अनादि है ऐसा ही उनके उन कर्मों के द्वारा प्राप्त संसार भी अनादि है यह समझने के लिए मैं कहता हूँ।

पूर्वकल्पों में जो भूतग्रामः—भूतग्राम अर्थात् प्राणिवर्ग उत्पन्न हुआ था। स एव अयम् अवशः—वही यह अवश होकर (परतन्त्र अर्थात् स्वयं अविद्या के कारण अस्मिता के अभिनिवेश पूर्वक (देहादि मैं हूँ इस प्रकार अभिमान करके) राग, द्वेष से कृत पुण्य एवं पाप कर्म के अधीन होकर उस-उस कर्म के फल के अनुभव के लिए प्रत्येक कल्प में भूत्वा भूत्वा—पुनः पुनः अनुभव (भोग) कर अहरागमे प्रभवति, रात्र्यागमे प्रलीयते—दिन के आने पर उत्पन्न होता है एवं रात्रि के आने पर प्रलय प्राप्त होता है अर्थात् तिरोहित हो जाता है। इस प्रकार घटीयंत्र के समान पुण्य एवं पाप कर्म के वेग से बारंबार जन्म लेता है एवं मरता है आध्यात्मिक आदि दुःखो से पीड़ित एवं सन्तप्त होता है, कभी भी जन्म मृत्यु के प्रवाह से मुक्ति नहीं प्राप्त करता है, यही अर्थ है।

(७) नारायणी टीका—ब्रह्मा के जागरण काल में (दिन में) जीवसमुदाय का बारंबार जन्म तथा निद्राकाल में लय होता है, यह कहा गया है। प्रश्न होगा ब्रह्मा का दिन आने पर अर्थात् प्रत्येक कल्प में नवीन जीव की सृष्टि होती है या नहीं ? इसके उत्तर में भगवान् कह रहे हैं—नहीं, पूर्व पूर्व कल्प में जिस जिस वस्तु की सृष्टि हुई थीं उनकी ही सृष्टि दूसरे कल्प में भी होती रहती है—नवीन किसी वस्तु की सृष्टि नहीं होती है। ब्रह्मा की रात्रि में सब जीव अपने अपने संस्कार के साथ अव्यक्त में लीन रहते हैं परन्तु दिन आने पर उन संस्कारानुसार अवश होकर पुनः पुनः जन्म लेते हैं एवं मरते हैं ठीक जैसा निद्राकाल में व्यष्टि जीव का सभी संस्कार प्रकृति में लीन हो जाते हैं किन्तु निद्राभंग होकर जाग्रदवस्था आनेपर वे सब संस्कार पुनः प्रकट होते हैं। जबतक परमात्मा के साथ एक न हो जाये तब तक जीव का इसप्रकार जन्म-मरण का चक्र चलता रहता है। ब्रह्मा की रात्रि में सबका प्रलय होता है किन्तु पुराणादि शास्त्रों में प्रलय काल का बहुत भयानक चित्र वर्णित हुआ है—'पर्जन्यः शतवर्षाणि भूमौ राजन् न वर्षति। तदा निरन्ने ह्यन्योन्यं भक्षमाणाः क्षुधार्दिताः ॥' अर्थात् प्रलय काल उपस्थित होनेपर शतवर्ष तक अनावृष्टि एवं सूर्य का ताप अत्यन्त तीव्र होने के कारण जब अन्न उत्पन्न नहीं होता है तब जीवगण क्षुधा से पीड़ित होकर परस्पर एक दूसरे का भक्षण करने लगते हैं। इसप्रकार पुनः पुनः जन्ममृत्यु का आवर्त तथा प्रलय काल में महादुःख व ताप का विचार कर जिससे मनुष्य पृथिवी लोक से

सत्यलोक पर्यन्त सभी लोकों के प्रति वैराग्यवान होकर इस जन्म में ही भगवान् को प्राप्त करने के लिये तीव्र संवेग के साथ प्रवृत्त हों, इसलिये श्रीभगवान् ने अर्जुन को सृष्टि व प्रलय का रहस्य सुनाया। 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' इत्यादि श्लोक के द्वारा (गीता ८।१३) जिस अक्षर पुरुष के सम्बन्ध में कहा गया है एवं जिसकी प्राप्ति का उपाय भी बतलादिया, अब उसी अक्षर पुरुष के स्वरूप निर्देश करने के लिये यह कहा जा रहा है कि 'इस योगमार्ग से इस वस्तु मिलती है—[१६ वें श्लोक में उक्त 'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन' इस सन्दर्भ की व्याख्या १७-१९ श्लोकों में की गयी। १६ वें श्लोक में उक्त 'मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते' (अर्थात् मुझ अक्षर ब्रह्म को प्राप्त होनेपर और पुनर्जन्म नहीं होता है) इस अन्तिम सन्दर्भ की व्याख्या अब २०-२१ श्लोक में की जा रही है।]

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥

अन्वय—तस्मात् अव्यक्तात् परः तु अन्यः यः अव्यक्तः सनातनः भावः सः सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति।

अनुवाद—उस (पूर्वोक्त) अव्यक्त (हिरण्यगर्भ) से पर (विलक्षण) अर्थात् उस अव्यक्त से भी अतीत अर्थात् श्रेष्ठ जो अव्यक्त (इन्द्रियादि का अविषय) सनातन भाव (सत्ता) विद्यमान है वह सर्वभूतों के नष्ट होने पर भी विनाश प्राप्त नहीं होता।

भाष्यदीपिका—तस्मात् अव्यक्तात्—उस पूर्वोक्त भूतसमूहों के बीजभूत अविद्यालक्षणरूप अव्यक्त से [अथवा चराचरात्मक स्थूल प्रपंच के कारण स्वरूप हिरण्यगर्भ नामक प्रसिद्ध जो अव्यक्त है उससे (मधुसूदन)] परः—व्यतिरिक्त (भिन्न) अथवा श्रेष्ठ। जो अक्षर ब्रह्म के सम्बन्ध में कहा गया है वह उस अविद्यालक्षणरूप अव्यक्त का भी कारण है, अतः उससे श्रेष्ठ है। तु—जिसके विषय में कहा जा रहा है वह ब्रह्म पूर्वोक्त अव्यक्त से अत्यन्त विलक्षण है, वही 'तु' शब्द के द्वारा सूचित हो रहा है। हेय, अनित्य, मिथ्या, अविद्यारूप अव्यक्त से परब्रह्मरूप अव्यक्त का यही वैलक्षण्य है कि यह नित्यस्वरूप सत्स्वरूप एवं ज्ञानस्वरूप है, अतः यही उपादेय है अर्थात् मुमुक्षु के लिये एकमात्र अवलम्बनीय (आश्रययोग्य) है। 'तु' शब्द का यहाँ तात्पर्यार्थ है। अन्यः—पूर्वोक्त अव्यक्त से व्यतिरिक्त (भिन्न) होनेपर भी उसके साथ अव्यक्त ब्रह्म का अन्य कोई प्रकार सादृश्य या एकरूपता हो सकती है, इस

आशंका को निवृत्ति के लिए कह रहे हैं कि वह 'अन्यः' अर्थात् सर्वप्रकार से (अत्यन्त) विलक्षण क्योंकि श्रुति कहती है—'न तस्य प्रतिमा अस्ति' (श्वेता० उ० ४।१९) अर्थात् उनकी प्रतिमा या तुलना (सादृश्य) नहीं है। यः—अव्यक्तः—इसप्रकार जो अत्यन्त विलक्षण अव्यक्त अर्थात् इन्द्रिय का अगोचर (अविषय) है एवं इसलिए जो कभी भी व्यक्त नहीं होता है। [ब्रह्म रूपादि-विहीन होने के कारण चक्षुरादि इन्द्रियों का वह सर्वदा ही अविषय रहता है अर्थात् चक्षुरादि इन्द्रियाँ उसको कभी भी विषय के रूप से ग्रहण नहीं कर सकती हैं, इसलिए उसको अव्यक्त कहा जाता है।]

अतः जो सनातनः—चिरन्तन (नित्य) भावः—अक्षराख्य (अक्षर अविनाशी' इस विशेषण से विशिष्ट) परब्रह्म की सत्ता (स्वरूप) है ['भाव' शब्द का अर्थ है सत्ता। परब्रह्म ही सर्वत्र भाव (सत्ता) के रूप से विद्यमान है। भूतसमूहों के बीजभूत (विश्वप्रपंच के कारणस्वरूप) अविद्या-लक्षणरूप जिस अव्यक्त के सम्बन्ध में पहले कहा गया है (गीता ८।१८) वह कल्पित होने के कारण उसकी परमार्थतः कोई सत्ता नहीं है क्योंकि वह एवं उसके सभी कार्य ही मिथ्या हैं। किन्तु परब्रह्मरूप अव्यक्त को 'भाव' कहा गया है क्योंकि वह समस्त कल्पित कार्यों में ही 'सत्' के रूप से ('है' इस प्रकार की भावना से) अनुगत रहता है। अतः यह सनातन अर्थात् नित्य है।] सः—वह अर्थात् इस प्रकार जो नित्य 'भाव' या सत्ता है वह सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु—ब्रह्मादि सब भूतवर्ग का (सब प्राणियों का) नाश होने पर भी न विनश्यति—विनष्ट नहीं होता है (एवं भूतवर्ग के उत्पन्न होते रहने पर भी वह उत्पन्न नहीं होता है) सभी विनाशशील विकारी पदार्थ परमपुरुष में ही अन्त में लय प्राप्त होते हैं क्योंकि वही एकमात्र अधिष्ठान सत्ता भी है। अतः उसके (परब्रह्म के) विनाश का कभी सम्भव नहीं है। चराचर स्थूल प्रपञ्च का कारणभूत हिरण्यगर्भनामक अव्यक्त (कल्पित होने के कारण) कार्य पदार्थ है एवं समष्टि भूतोंमें (प्राणियों में) अभिमान रखनेवाला है। अतः उन भूतों की उत्पत्ति तथा विनाश के द्वारा उसकी उत्पत्ति और विनाश होना उचित ही हैं किन्तु समष्टि या व्यष्टि प्राणियों में अभिमान न रखनेवाले, अकार्यभूत, अव्यक्त, अक्षर ब्रह्म के नाश एव उत्पत्ति नहीं हो सकते—यही कहने का अभिप्राय है (मधुसूदन)]

टिप्पणी (१) श्रीधर—ब्रह्मादि लोकों का अनित्यत्व विस्तारपूर्वक वर्णन करके अब परमेश्वर के स्वरूप का नित्यत्व विस्तारपूर्वक वर्णन दो श्लोकों द्वारा करते हैं—तस्मात् अव्यक्तात् परः यः अन्यः अव्यक्तः भावः

सनातनः—उस चराचर के कारणरूप अव्यक्त से पर (अर्थात् उस अव्यक्त का भी कारणरूप) जो अन्य (उससे विलत्तण—भिन्न) दूसरा अव्यक्त (चत्तु आदि इन्द्रियों का अगोचर अर्थात् अविषय) सनातन (अनादि) भाव (सत्ता) है **सः सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु अपि न विनश्यति**—वह तो सब भूतों के (समस्त कार्य कारणरूप प्राणियों के) नष्ट होने पर भी विनाश प्राप्त नहीं होता है।

(२) **शंकरानंद**—जिस कारण से विषयसुखमोहरूप ग्राह के द्वारा ग्रस्त पुरुष के दुःख की परम्परा जिसप्रकार पूर्व श्लोक में कही गई इस प्रकार की ही है इसलिए विवेकी व्यक्तियों को जिससे मेरी प्राप्ति हो वैसा यत्न करना चाहिए, ऐसा सूचित करते हुए श्रीभगवान्, अपने को (ईश्वर को) जो पुरुष प्राप्त होंगे उनको संसार का दुःख एवं पुनरावृत्ति नहीं होती है, ऐसा समझाने के लिए (सर्वप्रपञ्च का कारणरूप) अव्यक्त एवं अव्यक्त के कार्यलेश के साथ अपना (ईश्वर का) कोई सम्बन्ध नहीं है तथा अपना स्वरूप नित्य (सनातन) है, ऐसा प्रतिपादन अब कर रहे हैं—**तस्मात्**—वह अर्थात् पूर्वोक्त समस्त व्यक्तियों की उत्पत्ति एवं प्रलय के कारणरूप **अव्यक्तात् तु अन्यः**—अव्यक्त से किन्तु अन्य (भिन्न) एवं विलक्षण अक्षर-नामक **भावः**—जो भाव (सत्ता) अर्थात् परमात्मा है **अव्यक्तः**—वह व्यक्त नहीं किया जा सकता है अर्थात् सम्पूर्ण प्रमाणों के द्वारा वह जाना नहीं जा सकता, इस कारण वह अव्यक्त अर्थात् अप्रमेय है।

शंका—जब दोनों में ही अव्यक्तत्व समान है तब वह (परब्रह्म) उससे (अव्यक्त से) कैसे विलक्षण है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—'पर' इति। **परः**—वह पर अर्थात् प्रकृष्ट (अनुत्तम) है क्योंकि 'अव्यक्तात्तु परः पुरुषः' ['अव्यक्त से तो पुरुष पर अर्थात् उत्तम है'] ऐसी श्रुति है। किस कारण से अक्षर अव्यक्त से अनुत्तम है ? उत्तर में कह रहे हैं—'सनातन' इत्यादि। **सनातनः**—वह सनातन अर्थात् अनादि एवं नित्य है। जन्म आदि विकार का अनाश्रयत्व ही भाव की नित्यता है अर्थात् जो भाव का (सत्ता का) जायते, अस्ति, वर्धते इत्यादि विकार नहीं है वही नित्य है। प्रपञ्च के कारण-भूत अव्यक्त में ऐसी नित्यता नहीं है, क्योंकि—'सच्छब्दवाच्यमविद्याशबलं ब्रह्म ब्रह्मणोऽव्यक्तम्' ['अविद्याशबल ब्रह्म 'सत्' शब्द वाच्य है, ब्रह्म से अव्यक्त होता है'] इसप्रकार अव्यक्त में प्रथम विकार (जन्म) के सम्बन्ध में सुना जाता है, इसलिए विकारित्व एवं निकृष्टत्व आदि धर्म से युक्त रहने के कारण अक्षर के साथ उसका (प्रपञ्च के कारणभूत अव्यक्त का) सालक्षण्य

(समानरूपता) उत्पन्न नहीं है, यही अर्थ है। अक्षर का नित्यत्व जो कहा गया है, उसको स्पष्ट कर कह रहे हैं—यः-जो सनातन अव्यक्त अक्षर परमात्मा है, सः **सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु**—वह अव्यक्त, महद् आदि समस्त भूतों के काल की दृष्टि से या ज्ञान की दृष्टि से अभाव प्राप्त होने से भी अर्थात् नष्ट होने पर भी स्वतः अथवा परतः (अन्य के द्वारा) **न विनश्यति**–नष्ट नहीं होता है अर्थात् (अव्यक्त सनातन परमात्मा) कभी भी विनाश प्राप्त नहीं होता है।

(३) **नारायणी टीका**—८।१६ वें श्लोक में भगवान ने कहा—'मामुपेत्य पुनर्जन्म न विद्यते' अर्थात् मुझको प्राप्त होनेपर फिर पुनः जन्म नहीं होता है। क्यों ऐसा होता है ? उसे ही अब स्पष्ट कर रहा है। जो अक्षर परब्रह्म के सम्बन्ध में ८।३ श्लोक में कहा है वह अक्षर नामक परम पुरुष (क) अव्यक्त है [अर्थात् इन्द्रियादि के अविषय होने के कारण कभी स्थूलरूप से (दृश्यरूप से) व्यक्त (प्रकट) नहीं होता है।] (ख) किन्तु वह समस्त भूतों के बीजभूत जो अज्ञानरूप अव्यक्त (प्रधान या प्रकृति) है उससे पर (श्रेष्ठ) है क्योंकि वह अज्ञान के भी वही कारण है अर्थात् अज्ञान के सभी कार्य (जिनकी कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं है वे कार्य) उस अक्षरनामक परब्रह्म को ही अधिष्ठान कर प्रतीत होते हैं। (ग) वह उस अज्ञानरूप अव्यक्त से श्रेष्ठ ही नहीं—उससे अन्य (अत्यन्त विलक्षण) भी है क्योंकि श्रुति कहती है—'न तस्य प्रतिमा अस्ति' अर्थात् किसी के द्वारा वह परिमित नहीं हो सकता। अज्ञान के सभी कार्य परिमित हो सकते हैं किन्तु वह अक्षरब्रह्म अप्रमेय है वह ज्ञानस्वरूप है अतः अज्ञान व उसके कार्यरूप विश्वप्रपञ्च से वह सम्पूर्ण भिन्न (विलक्षण) है। (घ) उसका भाव (सत्ता या स्वरूप) सनातन है (नित्य है अविकारी है) और अज्ञानरूप अव्यक्त के कार्य अनित्य व विकारी है। इसलिये भी वह सनातन भाव (सत्ता) सबसे अन्य (विलक्षण) है। (ङ) यही एकमात्र नित्य सत्ता है—अज्ञान से कल्पित मिथ्या प्रपञ्च तो इसकी सत्ता से ही सत्तावान् होकर स्फुरित होते हैं अतः यही सर्वदृश्य वस्तुओं में सद्रूप से (अस्ति रूप से) विद्यमान है। अतः आकाशादि सभी भूतवर्ग विनष्ट होनेपर भी उसकी सनातन सत्ता का विनाश कभी नहीं होता है। इसलिये नित्य सत्य वस्तु का आश्रय लेकर यदि कोई अनित्य मिथ्या संसार से मुक्ति प्राप्त करने की इच्छा करे तो एकमात्र इस परमब्रह्म का ही शरणागत होने पर वह सम्भव है अन्यथा नहीं। [किसी किसी टीकाकारों ने 'अव्यक्त' शब्द का अर्थ हिरण्यगर्भ किया है। इसमें कोई आपत्ति नहीं है। एक ही परमपुरुष (परमात्मा) उपाधियुक्त होकर ब्रह्मा, हिरण्यगर्भ,

विराट् इत्यादि नामों से अभिहित होता है। जब अपनी शुद्ध चैतन्य सत्ता में (स्वरूप में) स्थित रहता है तब उसको परमात्मा (परब्रह्म या भगवान्) कहते हैं। जब प्रलय या महाप्रलय में सभी विश्वप्रपञ्च का नाश हो जाता है तब यही अनन्त, सनातन सत्ता ही अवशिष्ट रह जाती है। इसकी वह सत्ता होने की कल्पना से ही (मायाशक्ति से) सृष्टि का प्रारम्भ होता है। ('सोऽकामयत अहं बहुस्यां प्रजायेयेति'—तै० उ०)। मनुस्मृति में भी कहा है—'सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः' [अपनो शरीर से (अपनी सत्ता से) विविध प्रजाकी सृष्टि करने के लिये प्रलयकाल में (अर्थात् शुद्ध चैतन्य स्वरूप में) जो परमपुरुष (परमात्मा) शयन किया हुआ था या (अपने अनन्त स्वरूप में स्थित रहता था) वह यथाक्रम से आकाश, वायु, अग्नि, जल की सृष्टि कर जल में (कल्पित विषयरस में) बीज रूप से हुआ अर्थात् स्थापन किया। वह बीज ही अणुरूप में (समष्टि जीव के बीज (कारणभूत) अज्ञानरूप संस्कारों में] परिणत होकर ब्रह्मा हुआ है। वही परमपुरुष जब कल्पना से संस्कार के अधीन होकर समष्टि सूक्ष्मशरीर में (लिंग शरीर में) अर्थात् समष्टि जीवत्व में अभिमात करता है तब वह हिरण्यगर्भ नाम से अभिहित होता है। इस समष्टि लिंग शरीर के अभिमानी पुरुष में जीवों के सभी संस्कार अनभिव्यक्त (अप्रकट) अर्थात् अव्यक्त अवस्था में रहते हैं। इसलिये १८ वें श्लोक में अथवा अन्यत्र प्रकृति के अर्थ में जो अव्यक्त शब्द का व्यवहार हुआ है वह उसी हिरण्यगर्भ को लक्ष्य करके ही कहा गया है। जब उस हिरण्यगर्भ नामक सूक्ष्मशरीराभिमानी पुरुष से स्थूल सृष्टि की उत्पत्ति होती है तब वह चैतन्यस्वरूप परमपुरुष ही समष्टि स्थूल देहाभिमानी होकर विराट् नाम ग्रहण करता है। इसप्रकार एकही परमपुरुष उपाधिभेद से ब्रह्मा, हिरण्यगर्भ तथा विराट् रूप में प्रतीत होकर विश्वसृष्ट्यादि व्यापार का हेतु होता है। ब्रह्मा, हिरण्यगर्भ तथा विराट् तो मायिक (कल्पित) हैं। वे मिथ्या सृष्टपदार्थ में अभिमानी होने के कारण उनका विनाश भी अवश्यंभावी है किन्तु नित्यसत्य परमपुरुष उस हिरण्यगर्भरूप अव्यक्त से भिन्न (पृथक्) है—वह भी इन्द्रियादि के अविषय होने के कारण अव्यक्त ही है किन्तु उसकी सत्ता का कभी लोप नहीं होता कारण सृष्टि, स्थिति व प्रलय में अर्थात् सर्वावस्था में ही वह सद्रूप में (अस्ति या 'है' रूपमें) विद्यमान रहता है—उसका विनाश कभी नहीं होता है, यही कहने का अभिप्राय है।]

[वह अव्यक्त अक्षर परमात्मा ही जो परमगति है एवं उन्हीं को प्राप्त करने से और संसार में पुनः आना नहीं पड़ता है यह दिखाया जा रहा है]।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥

अन्वय—अव्यक्तः अक्षरः इति (यः भावः) उक्तः तम् (एव) परमां गतिम् आहुः, यम् प्राप्य न निवर्तन्ते तत् मम परमं धाम ।

अनुवाद—जिस भाव को (सत्ता को) अव्यक्त तथा अक्षर कहा गया है उस को ही श्रुति तथा स्मृति शास्त्र में परमगति कहकर निर्देश किया गया है। जिस भाव को प्राप्त होने पर और पुनरावर्तन नहीं होता है वही मेरा परम धाम है।

भाष्यदीपिका—अव्यक्तः अक्षरः इति (यः भावः) उक्तः—जिस अव्यक्त (अर्थात् अतीन्द्रिय) एवं अक्षर नामक (अर्थात् जन्मनाशशून्य) भाव वस्तु के सम्बन्ध में पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है तम् एव—उनको अर्थात् उस भाव पदार्थ को ही परमां गतिम्—प्रकृष्ट गति अर्थात् पुरुषार्थ की चरम विश्रान्ति अथवा पुरुषार्थ की पूर्ण सिद्धि [उत्पत्ति तथा विनाशरहित स्वप्रकाश परमानन्दस्वरूप परमात्मा को प्राप्त न करने पर पुरुषार्थ की आत्यन्तिक विश्रान्ति नहीं होती है अतः उसको ही परमगति कहा जाता है। कौन ऐसा कहते हैं उसे सूचित करने के लिए कहा जा रहा है—]

आहुः—श्रुति तथा स्मृति शास्त्र कहते हैं। श्रुति में कहा गया है 'येनाऽक्षरं पुरुषं वेद सत्यम्' अर्थात् जिसके द्वारा सत्यस्वरूप विनाशरहित पूर्ण पुरुष को जाना जाता है। श्रुति में और भी कहा गया है 'पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परागतिः' (कठ० उ० ३।११) अर्थात् उस पुरुष की अपेक्षा और कुछ भी पर (श्रेष्ठ) नहीं है, वही काष्ठा (शेष सीमा) है एवं वही परमा गति है'। यं प्राप्य—जिस भाव को प्राप्त होकर न निवर्त्तन्ते—और संसार में नहीं लौटते तत्—वही मम परमं धाम-मेरा अर्थात् विष्णु का सर्वोत्कृष्ट धाम (स्थान) अर्थात् पद या स्वरूप है। श्रुति में भी कहा गया है 'तद्विष्णोः परमं पदम्' अर्थात् उस विष्णु का परमपद [यहाँ 'मम धाम' का अर्थ है मेरा स्वरूप। मेरा स्वरूप मुझसे अभिन्न है तथापि षष्ठी विभक्ति के प्रयोग के द्वारा भेद कल्पना की गयी है ऐसा समझना होगा। पौराणिक मत में विष्णुचक्रच्छिन्न' दैत्य के देहांश को केतु तथा मस्तक को राहु कहा जाता है। राहु स्वयं जब मस्तक ही है तब राहोः शिरः अर्थात् 'राहु का मस्तक' इस प्रकार के भेद की कल्पना करके षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया गया

है उसी प्रकार 'मेरा धाम' और मैं अभिन्न होनेपर भी अभेद में भेद की कल्पना करके षष्ठी की गयी है। अतः यहाँ कहने का अभिप्राय यह है कि मैं ही विष्णु हूँ, मैं ही परमधाम हूँ तथा मैं ही परमागति हूँ। मुझको प्राप्त होने पर और पुनर्जन्म नहीं होता है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—पूर्ववर्ती श्लोक में जो सनातन (नित्य) अविनाशी भाव के सम्बन्ध में कहा हैं उस अविनाशी में प्रमाण दिखाते हैं—जो भाव अव्यक्तः—अर्थात् अतीन्द्रिय (इन्द्रियों के अविषय) तथा अक्षर—(प्रवेशनाशशून्य अर्थात् उत्पत्ति और विनाश से रहित) है [श्रुति भी इसको अक्षर ही कहती है यथा—'तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्' अर्थात् उसीप्रकार अक्षर से यहाँ उत्पन्न होता है।] इस अक्षर को ही श्रुति शास्त्रादि परमां गतिम् आहुः—परमगति कहते हैं 'परमागति' पद का अर्थ है जिसको प्राप्त होने पर पुरुष का परम (सर्वोत्कृष्ट) अर्थ (प्रयोजन अर्थात् मोक्ष) सिद्ध होता है। श्रुतियाँ भी कहती हैं—पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः (क० उ० १।३।११) अर्थात् पुरुष से पर (श्रेष्ठ) कुछ भी नहीं है, वही अन्तिम सीमा है। वह परमगति ही क्यों है उसे बताते हैं—यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद् मम परमं धाम—जिसको प्राप्त होकर पुनः (संसार में) नहीं लौटता वह मेरा ही परम धाम अर्थात् स्वरूप है 'मम धाम' यहाँ षष्ठी (छठी) विभक्ति का प्रयोग 'राहोः शिरः' (राहु के सिर) के समान औपचारिक है अर्थात् राहु और सिर जैसा एक होने पर भी अभेद में भेद की कल्पना कर षष्ठी विभक्ति का प्रयोग हुआ है उसीप्रकार मुझमें और मेरे धाम में कोई भेद न रहने पर औपचारिक भेद की कल्पना कर षष्ठी का प्रयोग हुआ है। अतः कहने का अभिप्राय यह है कि मेरा धाम अर्थात् मेरा स्वरूप अर्थात् मैं ही परमगति हूँ।

(२) शंकरानंद—इसप्रकार अक्षर का अस्तित्व कभी विनष्ट नहीं होता है ऐसा प्रतिपादन कर जो सनातन अव्यक्त—भाव का पहले प्रतिपादन किया था वह ही अक्षर परमात्मा है, इसलिए उनको जो प्राप्त कर लेते हैं उसक पुनरावृत्ति नहीं होती है यह अब प्रतिपादन कर रहे हैं। परत्व, सनातनत्व, अविनाशित्व आदि धर्म से युक्त होने के कारण उसे अविद्यानामक अव्यक्त से भिन्न अव्यक्तः अक्षरः इति उक्तः तम्—अव्यक्त एवं अक्षर कहा गया है। उसी अक्षर को 'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः'॥ (महत् से पर (श्रेष्ठ) अव्यक्त एवं अव्यक्त से पर (श्रेष्ठ) पुरुष, पुरुष से पर (श्रेष्ठ) कुछ भी नहीं, वही अन्तिम सीमा

एवं परा गति है) इत्यादि श्रुति सकल उसे परमां—परम (अर्थात् नित्य, निरतिशय, अद्वितीय, अखण्ड, चिदानन्दैकरस होने के कारण अनुत्तम) गतिम्—गति (ज्ञानेनैकेन गम्यते अर्थात् जो केवल ज्ञान से ही प्राप्त की जाती है, उसे गति कहते हैं) अर्थात् परमतत्त्वम् आहुः—कहते हैं इसलिए अक्षर ही नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य एवं परमानन्दस्वरूप अद्वितीय परब्रह्म है, यही अर्थ है।

शंका—अक्षर उक्त लक्षणयुक्त परब्रह्म होने से उसमें तुम्हारी तथा मेरी क्या आवश्यकता है ?

समाधान—वही परमात्मा है। उसीको जो जीव प्राप्त करते हैं उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती है। उसी भाव की (स्वरूपता की) जिससे प्राप्ति हो उसके लिए तुम्हारे सदृश पुण्यात्माओं को यत्न करना चाहिए, ऐसा सूचित करने के लिये एवं उसके यथार्थ स्वरूप को समझाने के लिए कहते हैं—'यं प्राप्य' इत्यादि—बहु जन्म के संचित पुण्यपुंज के परिपाक के द्वारा जो चित्त के प्रसाद (प्रसन्नता) एवं मेरे प्रसाद के पात्र हुए हैं एवं शम, दम आदि उत्तम साधनों से सम्पन्न होकर धन्य हुए हैं एवं सतत समाधिनिष्ठ हैं तथा संसिद्धि का सम्पादन किये हैं अर्थात् जीवन्मुक्तावस्था प्राप्त किये हैं ऐसे संन्यासी यं—जो अक्षर परब्रह्म है उसे प्राप्य—प्राप्त होकर पुनराय संसार के लिए पुनरावर्तन नहीं करते हैं अर्थात् पुनः देहधारण नहीं करते हैं तत्—वह अक्षर परब्रह्म अर्थात् मम—मेरा अर्थात् मायोपाधिक ईश्वर का धाम—धाम अर्थात् अप्राकृत, अबाधित तथा आदि एवं अन्तशून्य प्रकाशात्मक अपना (निजी) स्वरूप है।

(३) नारायणी टीका—पूर्ववर्ती श्लोक में इन्द्रियों के अविषय अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अविषय होने के कारण जिसको अव्यक्त कहा गया है तथा अज्ञानरूपा प्रकृति एवं प्रकृति के कार्य से सम्पूर्ण विलक्षण (अर्थात् सर्वप्रकार से संसर्ग रहित) तथा सदा ही निजी नित्य, बुद्ध, मुक्त स्वरूप में स्थित रहने के कारण जिसको अक्षर (अविनाशी) कहा जाता है उसको ही श्रुति स्मृति पुराण ने परमा (सर्वोत्कृष्ट उत्पत्तिविनाशशून्य स्वप्रकाश परमानन्दस्वरूप) गति (पुरुषार्थ की चरमसिद्धि या विश्रान्ति) कहा हैं। इसको परमधाम को (परम अर्थात् सर्व उपाधिरहित शुद्धचैतन्यस्वरूप धाम को अर्थात् सत्ता को) प्राप्त होने पर प्रलय का भय नहीं रहता है एवं इस घोर संसार में पुनरावर्तन नहीं होता है अर्थात् पुनर्जन्म से मुक्त होता है। वह तो परब्रह्मस्वरूप को प्राप्त कर परब्रह्म ही हो जाता है। [मम परमं

धाम—पहले ही कहा गया है कि निर्गुण अखण्डाद्वितीय परब्रह्म ही उपाधि-युक्त होकर ब्रह्मा से लेकर तृण तक सर्वरूप से प्रतीत हो रहा है। अतः प्रत्येक वस्तु ही उनके धाम (स्थान) है किन्तु वह 'परम' धाम नहीं है क्योंकि उपाधिकल्पनाकृत है—अतः वे सभी मिथ्या है। इसलिये किसी के प्रकार गुण से विशिष्ट भाव परमात्मा का अपना यथार्थ धाम (स्वरूप) नहीं हो सकता वे सब उपाधिविशिष्ट भाव विकारी तथा विनाशशील है। अतः सगुण भाव साधनावस्था में मनको स्थिर करने का अवलम्बन होते हुए भी वह परमतत्त्व नहीं है क्योंकि मन ध्यान की परिपकावस्था में निर्विकल्प—(पूर्णरूप से कल्पनारहित) होने पर किसी को सगुण भगवान का अनुभव नहीं होता है—उस समय निर्गुण अखण्डाद्वय एकमात्र ज्ञान सत्ता (चैतन्य सत्ता) का ही अनुभव होता है। यही भगवान् का परम (सर्वोत्कृष्ट तथा सनातन) धाम (स्वरूप) है जिसको प्राप्त करने से संसाररूप दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति एवं परमानन्द की प्राप्ति होती है। अतः एकमात्र अखण्डाद्वय सर्वोपाधि रहित ज्ञान सत्ता ही परमधाम या परमतत्त्व है—इसको ही वेदादि शास्त्रों में ब्रह्म परमात्मा या भगवान् कहा गया है (भागवत १।२।११)।

[उस अव्यक्त अक्षररूप परम गति को किस उपाय से प्राप्त किया जा सकता है ? अर्थात् व्यक्त विश्वप्रपञ्च से अतिरिक्त (विलक्षण) उस परम-पुरुष की (जिसे विष्णु का परम पद कहा गया है उनकी) प्राप्ति का कोई असाधारण उपाय कहना चाहिए ताकि मोक्षकामी पुरुषगण उनको प्राप्त करने के लिए इच्छुक होकर उस प्रकार के साधन में प्रवृत्त हो सकें। इसके उत्तर में १४ वें श्लोक में जो भक्तियोग के सम्बन्ध में कहा गया वही विष्णु के परम धाम की प्राप्ति का उपाय है, यह अब विशेषरूप से कहा जा रहा है]।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ २२ ॥

अन्वय—हे पार्थ ! भूतानि यस्य अन्तःस्थानि येन इदं सर्वं ततम् स परः पुरुषः अनन्यया भक्त्या तु लभ्यः।

अनुवाद—हे पार्थ! भूतसमूह जिनके अभ्यन्तर अवस्थित हैं एवं जो समग्र ब्रह्मांड को व्याप्त कर वर्तमान है वह परमपुरुष अनन्य भक्ति के द्वारा ही लभ्य (प्राप्त) हो सकता है।

भाष्यदीपिका—हे पार्थ—हे अर्जुन! तुम मेरे परम भक्त पृथा का पुत्र हो, अतः मेरे प्रति तुम्हारी भक्ति तो स्वाभाविक है। पृथा ने जिस प्रकार

मुझे अनन्य भक्ति के द्वारा प्राप्त किया था उस प्रकार तुम भी मुझे प्राप्त कर सकोगे अतः मैं जो कह रहा हूँ उसे सुनकर तुम भयभीत मत होओ, ऐसा आश्वासन देने के लिए ही श्रीभगवानने यहाँ 'पार्थ' कहकर सम्बोधन किया। भूतानि यस्य अन्तःस्थानि—भूत अर्थात् कार्यजात सभी पदार्थ जिनके मध्यवर्ती अर्थात् अभ्यन्तर स्थित हैं। कार्य कारण के अन्तर्वर्ती होता है (अन्तर में अर्थात् भीतर स्थित रहता है अर्थात् कारण से पृथक् कार्य नहीं रह सकता है।) परमपुरुष सभी कारणों का भी कारण होने के कारण उनमें ही सभी वस्तुओं की स्थिति है। 'यस्य अन्तःस्थानि' पद के द्वारा परमपुरुष के सर्वकारणत्व सिद्ध हुआ। येन इदं सर्वं ततम्—जिस पुरुष के द्वारा यह सारा जगत् (घटादि जिस प्रकार आकाश के द्वारा व्याप्त है उसीप्रकार) व्याप्त है। इस सम्बन्ध में श्रुति के अनेक वचन हैं—यथा, 'यस्मात् परं ना परमस्ति किंचिद् यस्मान्नणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्। वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥' कौषितकी ब्राह्मण उपनिषत्, श्वेताश्वतर उपनिषत) अर्थात् जिनकी अपेक्षा कुछ भी पर (उत्कृष्ट) अथवा अपर (निकृष्ट) नहीं है अर्थात् जो समस्त उत्कृष्ट तथा निकृष्टों में अनुगत हैं, और जिनकी अपेक्षा कुछ भी अणु (सूक्ष्म) नहीं है एवं ज्यायान् (बृहत् भी) नहीं है, स्तब्ध (निष्कम्प) वृक्ष जिसप्रकार निश्चल भाव से स्थित रहता है उस प्रकार एक अद्वितीय सत्ता द्युलोक में (स्वप्रकाश स्वरूप में ही) निश्चल भाव से प्रतिष्ठित रहता है; उस पुरुष के द्वारा यह सब ब्रह्मांड परिपूर्ण (व्याप्त) है। "यच्च किंचित्जगत् सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि च। अन्तर्बहिश्च तत् सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः" अर्थात् जगत् में जो कुछ भी दिखायी या सुनायी देता है उन समस्त पदार्थों के भीतर तथा बाहर नारायण परिव्याप्त हैं। "स पर्यगात् शुक्रम्" इत्यादि (ईश० उप०)—अर्थात् उस शुक्र अर्थात् वह शुभ्र (स्वयंप्रकाश) वस्तु परिव्याप्त है इत्यादि। यहाँ 'ततम्' शब्द के द्वारा परमात्मा की सर्वव्यापकता सिद्ध की गयी। सः परः पुरुषः—वह परम (सर्वोत्कृष्ट) पुरुष (परमात्मा) जो सभी का शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा है [देहरूप पुर में शयन करते हैं अथवा स्वयं सर्वत्र परिपूर्ण है इस कारण परमात्मा को पुरुष कहा जाता है। परः शब्द का अर्थ है निरतिशय अर्थात् जो परमात्मा से पर अर्थात् अतिशय या श्रेष्ठ अन्य कुछ भी नहीं है अनन्यया भक्त्या तु लभ्यः—(वह परमपुरुष) अनन्य भक्ति के द्वारा ही लभ्य है अर्थात् प्राप्त होने योग्य है। यहाँ भक्तिशब्द का अर्थ है ज्ञानलक्षणा भक्ति (अर्थात् केवल सेवा, प्रदक्षिणा, प्रणामादि लक्षणा भक्ति नहीं है किन्तु शास्त्र

तथा गुरुवाक्य से उन परमात्मा के स्वरूप का यथार्थ परिचय प्राप्त होने के पश्चात् वे ही मेरी आत्मा हैं (मेरा यथार्थ 'मैं' हैं) इसप्रकार बोध बुद्धि में आरूढ़ होने से उस परमपुरुष के प्रति शुद्ध प्रेम का उदय होता है क्योंकि आत्मा सभी वस्तुओं से प्रिय है, यह श्रुति कहती है। 'प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेय एतस्मात् सर्वस्मात्' (बृह० उप०)—अर्थात् यह आत्मा पुत्र से प्रिय है, वित्त से प्रिय है एवं जगत् की सभी वस्तुओं से प्रिय है। ऐसी आत्मा के स्वरूप के ज्ञान के साथ जब प्रेम का (भक्ति का) प्रवाह निरन्तर (अविच्छिन्न रूप से) चलता रहता है-—जब आत्मा से भिन्न और किसी विषय की चिन्ता नहीं रहती है अर्थात् यह भक्ति केवल आत्मविषया ही होती है (आत्मा को विषय करके ही रहती है) अन्य किसी जागतिक विषय को अवलम्बन नहीं करती है तब उसे अनन्याभक्ति (ज्ञानरूपा आत्मविषया भक्ति) कही जाती है। इसप्रकार अनन्य भक्ति के द्वारा ही उस परमपुरुष को प्राप्त किया जा सकता है, अन्य कोई उपाय नहीं है, इसे ही सूचित करने के लिये 'तु' शब्द 'एव' अर्थ में अर्थात् अवधारणार्थ में व्यवहृत हुआ है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—भगवान् की प्राप्ति में भक्ति अन्तरंग साधन (उपाय) है—इस कही हुई बात को ही पुनः कहते हैं—हे पार्थ! सः परः पुरुषः—वह परमपुरुष अर्थात् मैं अनन्यया भक्त्या लभ्यः—जिस भक्ति में अन्य कोई वस्तु आश्रयणीय नहीं है अर्थात् परमात्मा के विना दूसरो कोई वस्तु का चिन्तन नहीं रहता है इस प्रकार की ऐकान्तिकी भक्ति के द्वारा ही (मैं परमात्मा) प्राप्त होता हूँ—अन्य उपाय से नहीं। उस पुरुष (परमात्मा) को 'पर' क्यों कहा गया ?—क्योंकि वह सभी वस्तु का कारण है एवं उसके अंदर समस्त प्राणी स्थित हैं तथा उस कारणस्वरूप परमात्मा से यह समस्त जगत् व्याप्त है।

(२) शंकरानंद—'परस्तस्मात्तु' इत्यादि दो श्लोकों में परब्रह्म के स्वरूप का एवं उनको जो जीव प्राप्त हुए हैं उनकी अपुनरावृत्ति का प्रतिपादन कर अब कैसे एवं किस प्रकार के नियत साधन के द्वारा हम उनको प्राप्त होंगे, ऐसी आकांक्षा युक्त, परिशुद्धचित्तसम्पन्न तथा केवल मोक्ष की ही कामना से युक्त यतियों के लिए उनकी प्राप्ति का परम साधन कह रहे हैं— परः—'अव्यक्तात्तु परः पुरुषः' (अव्यक्त से पुरुष पर (श्रेष्ठ) है) इस श्रुति से पर अर्थात् सर्वोत्तम पुरुषः—पुरुष (बाहर एवं भीतर सर्वत्र एकरसता पूर्ण होने के कारण परमात्मा को पुरुष कहा जाता है)सः—वह अक्षर परमात्मा अनन्यया भक्त्या—अनन्य (जिसका परमात्मा से अतिरिक्त अन्य

विषय नहीं है, वह अनन्य है) अर्थात् सर्वत्र ब्रह्ममात्र का ग्रहणकारी 'मैं, यह' इत्यादि वृत्ति से रहित भक्ति के द्वारा (ये सब एवं मैं ब्रह्म ही हूँ, इसप्रकार जिसके द्वारा विद्वान् जानते हैं वह भक्ति अर्थात् ज्ञान है। इस स्थान में 'भज्' धातु का अर्थ ज्ञान है) तु—'तु' शब्द का अवधारण (निश्चय) करने के लिये प्रयोग किया गया है अर्थात् ज्ञान के द्वारा ही (आचार्य के प्रसाद के द्वारा प्राप्त समाधिनिष्ठा से प्राप्त शुद्ध ज्ञान के द्वारा ही) परमात्मा लभ्यः—प्राप्त किया जाता है अर्थात् प्राप्त होता है [कर्म के द्वारा, योग के द्वारा एवं सांख्य के द्वारा ब्रह्म को प्राप्त नहीं किया जा सकता।] परब्रह्म तो अतिसूक्ष्म एवं अतीन्द्रिय है इसलिए मुमुक्षु 'वह परब्रह्म मैं ही हूँ' ऐसा जानने के लिए कैसे समर्थ होता है, ऐसी आकांक्षा (जिज्ञासा) होने पर इसके उत्तर में कह रहे हैं—यस्य—जिसका अर्थात् जिस निर्विशेष परिपूर्ण अद्वितीय ब्रह्म के अन्तःस्थानि—अन्तःस्थानि अर्थात् अन्तर्देश में, (भीतर) दर्पण में नगर के समान, आभासरूप से ये भूतानि—भूतसकल स्थित हैं। यद्यपि दर्पण में नगर स्थित है ऐसा प्रतीत होता है, तब भी जिस प्रकार सन्निहित (अति निकट की) दृष्टि से भलीभाँति देखने पर केवल दर्पण ही रहता है, उसमें कोई नगर स्वयं स्वरूपतः नहीं है, उस प्रकार ही मानो ब्रह्म में भी जगत् विद्यमान है, ऐसा प्रतीत होता है। जो अधिष्ठान सत्ता को ही ग्रहण करता है उसकी ज्ञानदृष्टि से विचार करने पर तो केवल ब्रह्म ही विद्यमान है, उसमें जगत् नहीं है।

शंका—दर्पण में नगर नहीं है, यह जो कहा गया वह यद्यपि ठीक ही है तब भी जिस प्रकार दर्पण की स्वच्छता के कारण उसमें जब नगर प्रतीत हो रहा है तब मानना पड़ेगा कि सामने नगर है ही, उस प्रकार ही ब्रह्म में स्वरूप से जगत् के न रहने पर भी उस में प्रतीत होने के कारण ब्रह्म से अन्यत्र जगत् है ऐसा अंगीकार करना ही चाहिए।

समाधान—यह शंका युक्त नहीं है क्योंकि अद्वितीय ब्रह्म में जगत् है इस प्रकार जो मलिन अन्तःकरणयुक्त पुरुष कल्पना करता है उसकी बुद्धि में जगत् है ही। जिस प्रकार मनुष्य अपने नेत्र में स्थित पीलेपन की सफेद में कल्पना (आरोप) करता है और जैसे अपनी बुद्धि में स्थित प्रपञ्च की स्वप्न में कल्पना करता है वैसे ही मूढ़ पुरुष अपनी बुद्धि में ही स्थित वासनामय प्रपञ्च की निःप्रपञ्च ब्रह्म में कल्पना करता है और देखता भी है। वासनामय बुद्धि से उत्पन्न हुए जगत् के बिना स्वप्न में स्वरूपतः

दूसरा जगत् नहीं है क्योंकि यदि वह सत्य होता तब उसके बाध के अभाव का प्रसंग आता अर्थात् उसका अदर्शन कभी नहीं हो सकता था। उस प्रकार ब्रह्म में भी पुरुष के अन्तःकरण की वासना द्वारा कल्पित नामरूपात्मक जगत् ही आरोपित होता है, वस्तुतः वह नहीं है। यदि वह सत्य होता तब 'नहीं है' ऐसा निषेध वचन युक्त नहीं हो सकता। इसलिए अर्थात् 'आदेशो नेति नेति' (अब इसलिए 'नेति नेति' आदेश है) एवं 'आत्माऽगृह्यो नहि गृह्यते' ('आत्मा अगृह्य है, उसका ग्रहण नहीं किया जा सकता है) यह श्रुति भी आरोपित जगत् का निषेध करके ही ब्रह्म का बोध कराती है। इसलिए जो नामरूपात्मक समस्त जगत् केवल वासना से प्रतीत होता है वह मिथ्या ही है। इसप्रकार अधिष्ठान के दर्शन से उत्पन्न विज्ञान के द्वारा 'यह जगत् नहीं है, किन्तु ब्रह्म ही है', इस प्रकार अधिष्ठान मात्र में ही जिसका अवशेष होता है उस जगत् का निषेधपूर्वक, उस निषेध का अवधिभूत दर्पण के समान स्वच्छ तथा अन्य वस्तु से रहित चिदेकरस परब्रह्म को 'यही मैं हूँ' इसप्रकार शुद्धात्मा, बुद्धिमान् एवं सद्गुरु के अनुग्रह—युक्त पुरुष के द्वारा जाना ही जा सकता है, इस अभिप्राय से कहे हैं 'यस्यान्तःस्थानि भूतानि'। इस प्रकार जानने में जो यति असमर्थ है उसके लिए अन्य उपाय निर्देश कर रहे हैं—इदं—यह परिदृश्यमान सर्वम्—समस्त जड़ जगत् येन—जिस (अद्वितीय) प्रकाश रूप ब्रह्म के द्वारा ततम्—तत् (अर्थात् बाहर एवं भीतर सर्वत्र व्याप्त तथा प्रकाशित है) क्योंकि 'स पर्यगाच्छुक्रमकायम्' ('वह शुद्ध, काया से (शरीर से) रहित (ब्रह्म) सर्वत्र पूर्ण है') एवं 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' ('उसके प्रकाश से ही यह सब भासता है') ऐसी श्रुति है। इसके द्वारा यही सिद्ध हुआ कि प्रकाश से भिन्न प्रकाश्य का पृथक् स्वरूप (सत्ता) का अभाव है, क्योंकि अग्नि के द्वारा व्याप्त लौहपिंड़ आदि में ऐसा दिखता है अर्थात् अग्नि विना दूसरी वस्तु की प्रतीति नहीं होती है। इसलिए ब्रह्म से व्याप्त यह समस्त जगत् ब्रह्म ही है, इस प्रकार सभी के ब्रह्ममात्रत्व के विज्ञान के द्वारा अपना भी ब्रह्ममात्रत्व जाना ही जा सकता है, यही अर्थ है।

(३) नारायणी टीका—२० वें श्लोक से २२ श्लोक तक जो कहा गया है उसके तात्पर्य को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। यथा (क) परमात्मा का स्वरूप (ख) जीव के साथ परमात्मा का सम्बन्ध तथा प्रयोजन (ग) उस प्रयोजन की सिद्धि का उपाय। परमात्मा ही एकमात्र भावपदार्थ (सत्पदार्थ) है। वह इन्द्रियों का विषय न होने के कारण अव्यक्त है। जगत का कारण जो अविद्यारूप अव्यक्त है उससे यह अव्यक्त सत्ता

विलक्षण है, क्योंकि सर्ववस्तु का नाश होनेपर भी उसका कोई नाश नहीं होता है। वह सदा ही अपने नित्यशुद्धचित्स्वरूप में विद्यमान रहता है। इसलिए उसे अक्षर (अविनाशी) भी कहा जाता है। वह माया के कार्यभूत विश्वप्रपंच से विलक्षण होने पर भी समस्त स्थावर जंगम भूतवर्ग उसके अन्तःस्थ अर्थात् उसके भीतर ही अवस्थित हैं एवं उसके द्वारा ही भीतर तथा बाहर व्याप्त है। इसलिये वही पर अर्थात् निरतिशय या सर्वोत्कृष्ट पुरुष है क्योंकि उससे और कोई श्रेष्ठ नहीं है। वही सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म है।

(ख) **जीव के साथ परमात्मा का सम्बन्ध**—परमात्मा जब सब कुछ में व्याप्त है (गीता ८।२२) तब वही जीव की आत्मा है क्योंकि जो जीव के शरीर मन इत्यादि में अर्थात् भीतर तथा बाहर सर्वत्र व्याप्त है वही तो आत्मा है (आतनोति व्याप्नोतीति आत्मा)। परमात्मा से भिन्न और जो कुछ है वे सभी विनाशशील हैं। अतः परमात्मा से भिन्न जो कुछ प्राप्त होगा वह क्षर (नाशवान) ही होगा। अतः परमात्मा से भिन्न अन्य कुछ प्राप्त होने पर भी वह अनित्य होने के कारण जीव को संसार में पुनरावर्त्तन (पुनर्जन्म) होगा ही। किन्तु प्रत्येक प्राणी चाहता है कि (१) उसका नाश कभो भी न हो—(२) उसका सर्वविषय के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान रहे एवं (३) दुःख कभी न हो परन्तु निरतिशय आनन्द (परमानन्द) सर्वदा के लिए विद्यमान रहे।

अर्थात जीव सत्—होना चित्—होना एवं आनन्द—होना चाहता है। अतः जब तक वह स्वयं सच्चिदानन्द न हो तबतक उसकी वह अनादि वासना पूर्णरूप से तृप्त नहीं हो सकती। इसीलिए श्रीभगवान् ने कहा है 'तमाहुः परमां गतिम्' (गीता ८।२१) अर्थात् उस अव्यक्त अक्षर सच्चिदानन्दस्वरूप परम पद को ही श्रुति में परमागति कही गयी है। अतः सच्चिदानन्दस्वरूप परम पुरुष (परमात्मा) के साथ ऐक्य साधन करना ही जीव का एकमात्र प्रयोजन है अर्थात् वही जीव की परमागति या परमपुरुषार्थ है क्योंकि उस परम पद की प्राप्ति होने से ही जीव की अनादि वासनाओं की पूर्णरूप से तृप्ति होती है एवं इस दुःखमय संसार में बारंबार जन्ममरण का चक्र भी निवृत्त हो जाता

है (गीता ८।२१) (ग) **उस प्रयोजन सिद्धि का (अर्थात् परमात्मस्वरूप की प्राप्ति का) उपाय**—परमात्मा ही अपनी आत्मा है ऐसा जानकर गुरूपदिष्ट-मार्ग से प्रेमपूर्वक उस आत्मविषया वृत्ति को अनन्या अथवा अव्यभिचारिणी (अखंडिता) रखने से ही जीव निर्विकल्प समाधि से उस परम पुरुष को प्राप्त होकर ('मैं ही परब्रह्म हूँ', इस प्रकार साक्षात् अनुभव कर) कृतकृत्य हो जाता है—दूसरा कोई उपाय नहीं है। यही ज्ञानलक्षणा (प्रेमलक्षणा) भक्ति

है। इसलिए शास्त्र में कहा गया है 'मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी। स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते'। अर्थात् मोक्षप्राप्ति के लिये जितने उपाय शास्त्रों में कहे गये हैं उनमें से भक्ति ही श्रेष्ठ है। अपने स्वरूप का (आत्मा का) अनुसन्धान ही भक्ति है अर्थात् आत्मा का यथार्थ स्वरूप जानकर उसमें अन्य कोई विषय का चिन्तन न कर केवल आत्मा का ही निरन्तर चिन्तन करने से जो प्रेम का प्रवाह चलता रहता है वही 'अनन्यभक्ति' है एवं उस अनन्यभक्ति से ही परमात्मा की प्राप्ति होती है। किन्तु इस प्रकार अनन्य भक्ति दीर्घ साधन के विना नहीं उत्पन्न होती है। शबरी को रामचन्द्रजी ने जो नवधा भक्ति का उपदेश दिया था उन नौ प्रकार की भक्ति के अभ्यास तथा वैराग्य परिपक होनेपर परमात्मा में अनन्यभक्ति होती है। साधनों का क्रम इस प्रकार है—

(१) सत्संग—इससे परमात्मा के सत्यत्व नित्यत्व परमानन्दरूपत्व तथा संसार की सभी वस्तु के मिथ्यात्व एवं असारत्व का निर्णय होकर परमात्मा की प्राप्ति के लिये वासना उत्पन्न होती है। इससे परमात्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे परोक्षज्ञान कहते हैं। (२) मत्कथालाप (३) मद्‌गुणस्मरण (४) मत्स्वरूप की व्याख्या इनसे सच्चिदानन्द-स्वरूप परमात्मा में क्रमशः रुचि, प्रेम एवं भक्ति का उदय होता है एवं विषयों के प्रति वैराग्य उत्पन्न होता है। इस प्रकार के अभ्यास व वैराग्य से भगवान की प्राप्ति के लिये संवेग तीव्र होता रहता है। (५) गुरुसेवा (६) यम नियम (७) मत्पूजा में निष्ठा एवं (८) मन्त्रजप इनसे अहंकार की निवृत्ति, देहात्मबुद्धि का क्षय एवं चित्तशुद्धि होती हैं। (९) शमदम के सहित तत्त्वविचार—चित्तशुद्धि प्राप्त होने के पश्चात् शमदमादिसाधनचतुष्टय सम्पन्न होकर ब्रह्मनिष्ठ गुरु से वेदान्तमहावाक्य श्रवण व मनन (तत्त्वविचार) करके निदिध्यासन से (निरन्तर परमार्थ तत्त्व में चित्त को समाहित रखने पर) परमात्मतत्त्व का साक्षात्कार होता है। निरन्तर निदिध्यासन और अनन्य (ज्ञानरूपा) भक्ति एक ही बात है। परमात्मतत्त्व का साक्षात्कार होने से सर्वत्र आत्मा का ही दर्शन होता रहता है जैसा सुवर्ण को जान लेने पर सुवर्ण की विकारभूत सभी वस्तुओं में सुवर्ण का ही दर्शन होता रहता है।

[जो लोग प्रणव में ब्रह्मबुद्धि करते हैं उन्हीं को ही इस स्थान में योगी कहकर अभिहित किया गया है। उनके देहपात के पश्चात् उनकी क्रममुक्ति होती है अर्थात् ब्रह्मलोक में ज्ञान प्राप्त होकर मुक्ति होती है यह पहले कहा गया है। अब उस प्रकार सगुण ब्रह्मोपासक व्यक्तियों को किस प्रकार से उस

ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है यह निर्देश करने के लिए उत्तर मार्ग अर्थात देवयान मार्ग के परिचय की आवश्यकता है। वर्तमान श्लोक में उस मार्ग से गति होनेपर किस प्रकार का फल प्राप्त होता है उसे कह रहे हैं। यहाँ काल शब्द से मार्ग का ही निर्देश किया जा रहा है। आवृत्ति मार्ग के (जिस मार्ग से संसार में पुनरावृत्ति होती है उस पितृयान मार्ग के) उपन्यास द्वारा (वर्णन के द्वारा) इतर मार्ग का अर्थात् अनावृत्ति मार्ग की ही [जिस मार्ग में गमन करने से और इस संसार में पुनरावृत्ति नहीं होती है उस उत्तर मार्ग (अर्थात् देवयानमार्ग) की ही प्रशंसा की जा रही है।]

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ २३ ॥

अन्वय—हे भरतर्षभ ! यत्र काले प्रयाताः योगिनः अनावृत्तिम् आवृत्तिम् च एव यान्ति तं कालं वक्ष्यामि।

अनुवाद—हे भरतकुल शिरोमणि ! जिस काल में मृत्यु प्राप्त हुए (मरे हुए) योगिगण इस संसार में पुनरावृत्ति करते हैं (पुनर्जन्म पाते हैं) अथवा अपुनरावृत्ति प्राप्त करते हैं (और पुनर्जन्म नहीं पाते हैं) मैं उस काल का वर्णन कर रहा हूँ।

भाष्यदीपिका। हे भरतर्षभ !—हे भरतकुलश्रेष्ठ ! भरतवंश में कितने महापुरुष उत्तरमार्ग से गमन कर संसार से मुक्तिलाभ किये हैं और तुम उसी कुल के श्रेष्ठ पुरुष हो। अतएव तुम जो मोक्ष को प्राप्त करोगे इस विषय में और क्या संशय है ? इसे ही सूचित करने के लिए श्रीभगवान ने भरतर्षभ कहकर यहाँ सम्बोधन किया। यत्र काले—जिस काल में [काल शब्द के द्वारा यहाँ मार्ग को समझाया जा रहा है (आनन्दगिरि), कालाभिमानी देवता से उपलक्षित मार्ग में (मधुसूदन)]।

प्रयाताः—जो लोग प्रयाण किये हैं (देह त्याग कर चले गये हैं) अर्थात् मरे हुए हैं ऐसे योगिनः—ध्याननिष्ठ योगिगण तथा कर्मयोगिगण यथाक्रम से। फलाकांक्षा से रहित होकर ईश्वरार्पण बुद्धि से जो लोग शास्त्र-विहित अपने अपने वर्णाश्रमधर्मानुकूल कर्म का अनुष्ठान करते हैं उनलोगों को भी गुण विशेषण से अर्थात् कर्मफलत्याग रूप गुण उनमें विद्यमान रहने के कारण योगी कहे जाते हैं। गीता में भी कहा गया है 'कर्मयोगेन योगिनाम्' (गीता ३।३) अर्थात् कर्मयोग के द्वारा योगियों के इत्यादि। अनावृत्तिम्

आवृत्तिम् च एव यान्ति—(जिस काल में अर्थात् जिस मार्ग में गमन कर ध्याननिष्ठ योगिगण अनावृत्ति अर्थात् अपुनर्जन्म (मोक्ष) प्राप्त होते हैं एवं जिस मार्ग से गमन कर कर्मिगण आवृत्ति (संसार में प्रत्यावर्तन कर पुनर्जन्म) प्राप्त होते हैं। तं कालं वक्ष्यामि—उस काल के विषय में अर्थात् मार्ग के विषय में (अब तुम्हें) कहूँगा। अभिप्राय यह है कि यद्यपि देवयान मार्ग से जो लोग ब्रह्मलोक में गमन करते हैं उससे सभी की ही जो अपुनरावृत्ति (मुक्ति) होती है ऐसी बात नहीं क्योंकि किसी किसी का (यथा पञ्चाग्नि-विद्या की उपासना करने वाले का) संसार में प्रत्यावर्तन होता है। किन्तु जो लोग भगवत्स्वरूप में ही ध्याननिष्ठ रहकर देहत्याग के बाद देवयान मार्ग से गमन करते हैं उनलोगों को और किसी प्रकार से ही लौटना नहीं पड़ता है, इसे ही श्लोक में 'एव' शब्द के द्वारा सूचित किया जा रहा है। 'एव' शब्द यहाँ निर्धारणार्थ में (निश्चितार्थ में) व्यवहृत हुआ है। पुनः जो सब कर्मयोगी मृत्यु के बाद पितृयान मार्ग से गमन करते हैं उनलोगों को अवश्य ही लौटना पड़ता है, इसे भी निश्चित रूप से कहने के लिए श्लोक में 'च एव' पद का प्रयोग किया गया है। इस देवयान तथा पितृयान मार्ग का परिचय ही अब श्रीभगवान अर्जुन के निकट वर्णन कर रहे हैं।

'यत्र काले' शब्द के तात्पर्य के सम्बन्ध में मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि 'काल' शब्द का मुख्य अर्थ 'समय' यदि यहाँ मान लिया जाय तो परवर्ती श्लोकों में जो अग्नि, ज्योतिः, धूम इत्यादि शब्द हैं उनकी संगति नहीं होती है (अर्थात् उनका कोई युक्तियुक्त समाधान नहीं होता है)। अधिकन्तु इस श्लोक में जो 'यान्ति' शब्द है एवं तीन श्लोकों के बाद जो 'सृति' शब्द है उनकी भी कोई संगति नहीं होती है क्योंकि काल अग्नि, ज्योतिः अथवा धूम में किसी का भी गमन सम्भव नहीं है, वह सृति अर्थात् पथ मार्ग नहीं हो सकता अतः काल शब्द का मुख्यार्थ त्याग कर लक्षणा का आश्रय लेकर काल शब्द का अर्थरूप से 'कालभिमानिनी देवता से उपलक्षित मार्ग का ग्रहण करना होगा।

द्वितीयतः ऐसा अर्थ करने का और भी विशेष कारण यह है कि देवयान (उत्तर मार्ग तथा पितृयान (दक्षिण) मार्ग इन दोनों में कालाभिमानी देवता है यह श्रुति वचन से जाना जाता है। और अग्नि तथा धूम यद्यपि काल से भिन्न है तथापि (क) अग्निहोत्र शब्द के समान काल शब्द को भी वहाँ उपलक्षण के रूप में ग्रहण करना पड़ेगा अर्थात् काल कहने में काल तथा काल से भिन्न जो कहा गया है उन सब को ही ग्रहण करना पड़ेगा। अग्निहोत्र यज्ञ में सायं तथा प्रातःकाल के होम की जो विधि है उसमें सायंकालीन होम अग्नि देवता के

उद्देश्य से किये जाने पर भी प्रातःकाल में अग्नि देवता के बदले में सूर्य देवता के उद्देश्य से ही करने का विधान है एवं सायं तथा प्रातःकाल में प्रजापति देवता को भी आहुति दी जाती है। तब भी जिस प्रकार एक अग्नि देवता के नाम से ही 'अग्निहोत्र' नाम रखा गया है अर्थात् 'अग्निहोत्र' इस शब्द का एकदेश अग्नि शब्द जिस प्रकार सूर्य देवता का भी उपलक्षण (ज्ञापक) है उस प्रकार यहाँ 'काल' शब्द कालेतर (काल से भिन्न) वस्तु का भी (अग्नि, धूम इत्यादि वस्तु का भी) उपलक्षण या ज्ञापक है (अर्थात् काल शब्द के द्वारा अग्नि, धूम इत्यादि वस्तु को भी समझाया जा रहा है)। (ख) इसका दूसरा समाधान यह है कि जहाँ जिसकी संख्या अधिक है वहाँ उसके नाम से ही परिचय दिया जाता है। जिस प्रकार आम के अतिरिक्त दूसरे पेड़ वन में रहने पर भी जहाँ आम के पेड़ की संख्या अधिक है उस वनको आम्रवन कहा जाता है. उस प्रकार इस स्थल में देवयान तथा पितृयान मार्ग के सम्बन्ध में श्रुति में कालवाचक शब्द की (कालाभिमानी देवता शब्द की) बहुलता रहने के कारण (अधिक रहने के कारण) 'काल' शब्द का प्रयोग हुआ है तथापि अग्नि, धूम इत्यादि का भी काल शब्द से ही निर्देश किया गया है। [२४ वें श्लोक को व्याख्या में भाष्यकार भी ऐसा ही कहेंगे]।

(क) अनावृत्तिम् आवृत्तिं चैव यान्ति—'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनः' (गीता ८।१६) इत्यादि की व्याख्या में कहा गया है कि यद्यपि पंचाग्नि इत्यादि विद्या से भी देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक में गमन होता है किन्तु उसका फल चिरस्थायी नहीं है—भोग का अन्त होने से उन विद्याओं के उपासकों का ब्रह्मलोक से संसार में पुनरावर्तन (पुनर्जन्म) होता है। परन्तु जो लोग दहरादि विद्या के उपासक हैं (छा० उप० द्रष्टव्य) वे लोग सगुण ब्रह्म के उपासक होने पर भी ब्रह्मलोक प्राप्त करते हैं एवं उस लोक के भोग का अन्त होने पर ज्ञानलाभ कर क्रममुक्ति की प्राप्ति करते हैं। अतः उनकी और पुनरावृत्ति नहीं होती है।

(ख) जो लोग केवल प्रतीमोपासक हैं (भगवान् की प्रतिमा की उपासना करते हैं वे लोग देवयान मार्ग से विद्युल्लोक पर्यन्त जाकर लौट आते हैं पंचाग्नि विद्या की उपासना करने वाले (जो सगुण ब्रह्म के उपासक नहीं होते हैं उनको) विद्युल्लोक पर्यन्त जाने पर अमानव दिव्य पुरुष आकर उन्हें वहाँ से ब्रह्मलोक में ले जाने पर भी वहाँ का भोग समाप्त होने पर फिर

लौट आते हैं किन्तु प्रतिमा के उपासकों का ब्रह्मलोक पर्यन्त गमन नहीं होता है यही विशेषता है।

(ग) जो लोग परमात्मा या ब्रह्म का ध्यान करने में अभ्यस्त न होकर देहत्याग करते हैं किन्तु मृत्यु के पहले विहित कर्मानुष्ठान किये हैं वे लोग पितृयान मार्ग से गमन करते हैं। उन सभी को संसार में पुनरावृत्ति (पुनर्जन्म) होती है अर्थात् वे लोग ब्रह्मलोक में गमन कर क्रममुक्ति प्राप्त करने का अधिकारी नहीं होते हैं। पितृयान (दक्षिणायन) मार्ग निकृष्ट है क्योंकि उसमें प्रयाण (गमन) करने से पुनरावृत्ति होती है। देवयान (उत्तरायण) मार्ग से प्रयाण करने पर भी जिन लोगों को संसार में पुनः प्रत्यावर्तन करना पड़ता है उनके सम्बन्ध में ऊपर में (क) तथा (ख) में कहा गया है। और जो योगी ध्यानी या सगुण ब्रह्मोपासक हैं वे देवयान मार्ग से ब्रह्म लोक में गमन कर क्रममुक्ति प्राप्त करते हैं—उनकी और पुनरावृत्ति नहीं होती है। अतः देवयान मार्ग ध्यानी व सगुण ब्रह्म के उपासक के लिये अनावृत्ति फलक (मोक्षरूप फलदायक) होने के कारण वह उत्कृष्ट है। अतः इस मार्ग की प्रशंसा करना ही वर्तमान श्लोक का तथा परवर्ती श्लोक का (२३-२४ वें श्लोक का) अभिप्राय है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—इस प्रकार परमेश्वर के उपासक उस अक्षर अव्यक्तरूप परमपद को प्राप्त होकर संसार में नहीं लौटते हैं—दूसरे लोग लौटते है, यह कहा गया है अब प्रश्न होगा—उसमें किस मार्ग से गये हुए नहीं लौटते ? इसके उत्तर में कहते हैं हे भरतर्षभ—भरत कुल में श्रेष्ठ अर्जुन यत्र काले—यहाँ रश्म्यनुसारी (ब्र० सू० ४) अर्थात् सूर्य की रश्मि में (किरण में) जो स्थित हो, उन्हीं का अवलम्बन करके वह सूर्यलोक से ब्रह्म लोक में चला जाता है, फिर 'अतश्चायनेऽपि दक्षिणे' (ब्र० सू० ४।२।२०) अर्थात् इस पूर्वोक्त कारण से ही दक्षिणायन में मरने वाले विद्वान का भी ब्रह्मलोक में गमन हो जाता है इन सूत्रों में जिस प्रकार कहा गया है उसके अनुसार यह सिद्ध होता है कि उत्तरायण आदि शास्त्रों के कहने का अभीष्ट नहीं है। अतः 'काल' शब्द से यहाँ कालाभिमानी देवताओं की सहायता से प्राप्त होने वाले मार्ग को उपलक्षित कराया जाता है। इसलिये यह अर्थ है कि प्रयाताः योगिनः अनावृत्तिं (यान्ति) यस्मिन् च काले प्रयाताः आवृत्तिं यान्ति—जिस कालाभिमानी देवता से उपस्थित मार्ग में गये हुए उपासक योगी की आवृत्ति (पुनर्जन्म) नहीं होती है और कभी योगी की संसार में आवृत्ति होती है (अर्थात् वह संसार में लौटता है)। तं कालं वक्ष्यामि—

उस कालाभिमानी देवता से उपलक्षित मार्ग को बताऊंगा।

अग्नि और ज्योति में कालाभिमानित्व का अभाव होने पर भी 'अहः' आदि शब्दों द्वारा उक्त अधिकांश देवताओं में कालाभिमानित्व रहने के कारण उनके साहचर्य से [जैसे बगीचे में दूसरे अनेक वृक्षों के रहते हुए भी आम वृक्ष की संख्या अधिक रहने के कारण उसे आम्रवृक्ष का वन (बगीचा) कहा जाता है,] इसी प्रकार उत्तरायण (देवयान) अथवा दक्षिणायन (पितृयान) मार्ग में काल से भिन्न अन्य सब देवता रहते हुए भी कालाभिमानी देवताओं के आधिक्य रहने के कारण अग्नि आदि सभी देवताओं को काल शब्द से उपलक्षित करने से कोई विरोध नहीं हो सकता।

(२) शंकरानंद—'पुरुषः स परः पार्थ' ('हे पार्थ! वह पर पुरुष केवल ज्ञानरूपा भक्ति से लभ्य है—गीता ८।२२) इसके द्वारा परब्रह्म को केवल ज्ञान के द्वारा ही प्राप्यता का, उक्त लक्षणयुक्त ज्ञान से ही ब्रह्मभाव प्राप्त यतियों के 'यं प्राप्य न निवर्तन्ते' ('जिसको प्राप्त होकर निवर्तन नहीं करता है,) इस श्रुति के अनुसार अपुनरावृत्तिरूप विदेहमुक्ति का एवं उसके फल का प्रतिपादन कर अब उक्त प्रकार से ब्रह्म को जानने में असमर्थ अशुद्ध बुद्धिसम्पन्न मुमुक्षुओं की चित्तशुद्धि के लिए 'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः' ('हे सत्यकाम! जो पर तथा अपर ब्रह्म है वह ॐ कार है') इसके द्वारा पर एवं अपर ब्रह्म दोनों की ही उपासना में प्रणव को प्रतीक रूप से ग्रहण करना उचित है ऐसा सूचन कर उसमें 'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणो-मित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत' ('जो पुनराय यह त्रिमात्र 'ओम्' इस अक्षर से पर पुरुष का ध्यान करते हैं') इस श्रुति के द्वारा उक्त रीति से प्लुत (प्लुतस्वर से) उच्चारित ॐ कार में परब्रह्म बुद्धि कर, वही ब्रह्म है, इसप्रकार जो ध्यान करते हैं, उस प्रणव में आवेशित ब्रह्मबुद्धि सम्पन्न यतियों को एवं अन्य को 'तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये' ('जो अरण्य में तपस्या व श्रद्धा के साथ वास करते हैं') इत्यादि श्रुति उक्त सगुण के उपासक क्रमशः विदेहमुक्ति प्राप्त होते हैं। इसप्रकार संन्यासी योगी का प्रयाणकाल प्राप्त होने पर क्या गति होती है, ऐसी आकांक्षा होने से 'तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्ष-मापूर्यमाणपक्षाद्यान् षड्डुदङ्ङेति मासांस्तान्मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्य-मादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत् पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्थाः' (जो गृहस्थ, वानप्रस्थ, नैष्ठिक ब्रह्मचारी एवं संन्यासी इस प्रकार जानकर श्रद्धावान् तपस्वी होते हैं, वे लोग अर्चि को प्राप्त होते हैं, अर्चिः से दिन को, दिन से आपूर्यमाण (शुक्ल) पक्ष को, आपूर्यमाण

पक्ष से छः उत्तरायण मासों को, उन मासों से संवत्सर को संवत्सर से आदित्य को, आदित्य से चन्द्रमा को एवं चन्द्रमा से विद्युत को वहाँ से एक अमानव पुरुष इन लोगों को (ब्रह्मलोक) प्राप्त कराता है। यही देवयान मार्ग है)। इससे 'अथ इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान् षड्दक्षिणैति मासांस्तान्नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति, मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति, तस्मिन् यावत्संपातमुषित्वाथैतमध्वानं पुनर्निवर्तन्ते' और जो इन ग्रामों में इष्ट, पूर्त एवं दान करते हैं वे लोग धूम को प्राप्त होते हैं, धूम से रात्रि को, रात्रि से अपर (कृष्ण) पक्ष को अपर पक्ष से यह दक्षिणायन मासों को, इन मासों से ये लोग संवत्सर को नहीं प्राप्त होते हैं मासों से पितृलोक को, पितृलोक से आकाश को, आकाश से चन्द्रमा को, यह सोमराजा उन देवताओं का अन्न है, उसको देवताएँ खाते हैं, उसमें जबतक (स्वर्ग में भोग्य पुण्य) सम्पत्ति है, तबतक रहकर पुनः इस मार्ग से लौट आते हैं') इस श्रुति में उक्त उत्तरायण से अपुनरावृत्तिरूप ब्रह्मप्राप्ति होती है, ऐसा समझाने के लिए उत्तरायण एवं उसकी व्यावृत्ति के लिए (अर्थात् उससे पृथग् मार्ग का निर्देश करने के लिये) तथा इसप्रकार कर्मियों का कर्मफल है, यह सूचित करने के लिए दक्षिणायन मार्ग का वर्णन किया गया है अतः ये दो मार्ग हैं, उनमें से एक के द्वारा गए हुए जीवों की अपुनरावृत्ति एवं दूसरे मार्ग के द्वारा गए हुए जीवों की पुनरावृत्ति होती है, यह प्रतिपादन कर रहे हैं—

'योगिनः' इस स्थल में 'योगिनः योगिनः' इस प्रकार दो पद हैं। 'सरूपाणामेकशेषविभक्तौ इस सूत्र के द्वारा 'जस्' विभक्ति रहने के कारण एकशेष करने पर 'योगिनः' इस रूप की सिद्धि है उसमें से एक 'योगिनः' पद के द्वारा संन्यासी को एवं दूसरा 'योगिनः' पद से कर्मी को सूचित कर रहा है निष्काम कर्मियों के कर्मफलसंन्यास होने के कारण गौणवृत्ति से उनमें योगित्व है। दोनों प्रकार के योगिनः—योगी यत्र—जिस काले—काल में प्रयाताः—प्रयाण कर अर्थात् मृत होकर स्वयं अनावृत्तिम् च आवृत्ति अनावृत्ति एवं आवृत्ति यान्ति तं कालं वक्ष्यामि—प्राप्त होते हैं, उस कालकों (मैं तुमको) कहूँगा। श्रवण करो, यही अर्थ है 'तु' शब्द का कर्मयोगियों से संन्यासियों को पृथक् रूप से निर्देश करने के लिये प्रयोग हुआ है।

(३) नारायणी टीका—योगी पुरुष की मृत्यु के पश्चात् एक स्थान से दूसरे स्थान में जो जो देवता ले जाता है उस कालाभिमानी देवता से लक्षित

मार्ग को ही यहाँ 'काल' शब्द से अभिहित किया है। अतः 'यत्र काले' इत्यादि वाक्य का अर्थ है जो मार्ग में योगिलोग गमन कर अपुनरावृत्ति अथवा पुनरावृत्ति प्राप्त होते हैं उस मार्ग के सम्बन्ध में तुमको मैं कहूँगा।

(क) प्रश्न—अपुनरावृत्ति किनकी होती है ?

उत्तर—(१) जिस योगीने परमात्मा के ध्यान में निष्ठा (निरन्तर स्थिति) प्राप्त करने के लिये प्रयत्न किया है परन्तु मृत्यु के पहले तत्त्वज्ञान नहीं प्राप्त कर सका है वह ब्रह्मलोक में जाकर ज्ञानलाभ कर मुक्त होता है।

(२) दहर विद्यादि द्वारा सगुणब्रह्म की उपासना जो लोग करते हैं वे लोग भी देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक में जाकर मुक्ति प्राप्त करते हैं। जिस विद्या द्वारा हृदय पुण्डरीक के अन्तराकाश के मध्य में स्थित सगुण ब्रह्म की उपासना की जाय उसे दहराविद्या कही जाती है। 'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपूरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यंतद्वाव विजिज्ञासितव्यम् (छा० उप० अष्टम प्रपाठक—९म खण्ड)—इस प्रकार श्रुति का वचन है। इस दहरविद्या के प्रभाव से प्रत्यगात्मा इस शरीर में आत्माभिमान छोड़कर परम प्रकाशस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त हो सकता है। जिन लोगों की जीवितावस्था में वह नहीं हुआ है वे मृत्यु के पश्चात् ब्रह्मलोक में जाकर उस लोक का भोग समाप्त होने पर परब्रह्म के साथ ऐक्य अनुभव कर (सम्यग्दर्शन प्राप्त कर) मुक्त हो जाते हैं अर्थात् संसार में और पुनरावर्तन नहीं करते हैं। शास्त्र तथा गुरु के उपदेशानुसार साधन करते हुए जब मनुष्य जानते हैं कि आत्मा जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति से अतीत है एवं स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर से पृथक् है तब जाग्रत, स्वप्नादि अवस्था में तथा स्थूल सूक्ष्मादि देह में उनका अभिमान नहीं रहता है। इसप्रकार अभिमान से शून्य होने पर ही अपने सच्चिदानन्द स्वरूप में स्थित रहने की योग्यता प्राप्त होती हैं। रजः तथा तमः गुणों को वशीभूत कर सात्त्विक गुण में स्थित होने का अभ्यास परिपक्व न होने पर देहादि में अभिमान का नष्ट होना सम्भव नहीं है। दहरविद्या उक्त प्रकार से स्वरूप में अवस्थान किस प्रकार से सुगमता से प्राप्त हो सकता है, वह निर्देश करती है।

(ख) प्रश्न—किसका देवयान (उत्तरायण) मार्ग से उत्क्रमण होते हुए भी पुनरावर्तन होता है ?

उत्तर—(१) पञ्चाग्निविद्या अनुष्ठान करनेवाले पुरुष का देवयान-मार्ग से उत्क्रमण होते हुए भी उसका पुनरावर्तन होता है अर्थात् वे संसार में

लौट आते हैं। अग्निहोत्रादि यज्ञ में जो आहुति दी जाती है वह जैसा सूर्यलोक में जाकर तदनन्तर यथाक्रम से जलरूप से पृथिवी में आकर शस्यादिरूप में परिणत होकर पुरुष के वीर्यरूप से परिणत होता है और वह वीर्य स्त्री में स्थापित होकर प्रजारूप से जन्म लेता है, उसी प्रकार पञ्चाग्नि विद्या में जल, आकाश, मेघ (बादल) तथा योषित्–इन पञ्च प्रकार के अग्नि में श्रद्धा, सोम, वृष्टि, अन्न तथा रेतरूप आहुति दी जा रही है ऐसी कल्पना करना पड़ता है अर्थात मैं द्युलोकादि पञ्च अग्नि से यथाक्रम से उत्पन्न हुआ हूँ (मैं पञ्चाग्नि का परिणाम हूँ), इसप्रकार अग्नि तथा आहुति के साथ तन्मय होकर 'मैं ही वह हूँ' इसप्रकार भावना करना पड़ेगा। इसके फलस्वरूप वे देवयानमार्ग से अमानव पुरुष की सहायता से हिरण्यगर्भलोक पर्यन्त जाते हैं किन्तु उधर का भोग समाप्त होने पर फिर लौट आते हैं।

(२) जो लोग प्रतीक उपासना (भेदबुद्धि से) करते हैं वे तो देवयान मार्ग से केवल विद्युत्-लोक पर्यन्त जाकर लौट आते हैं।

(३) जो वीर क्षत्रिय युद्ध क्षेत्र में सन्मुख भाव से युद्ध कर प्राण त्याग देते हैं अथवा अश्वमेधादि यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं वे भी ब्रह्मलोक में पुण्य कर्मादि का फलभोग कर पुनः लौट आते हैं।

(ग) प्रश्न—किन योगी पुरुष की ब्रह्मलोक में गति नहीं होती है एवं पितृयान मार्ग से उत्क्रमण कर पुनः संसार में लौट आते हैं ?

उत्तर—जो पञ्चाग्निविद्या का तात्पर्य नहीं जानकर केवल इष्ट अर्थात् अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म तथा पूर्त आदि अर्थात् वापी, कूप, तड़ाग, धर्मशाला इत्यादि की प्रतिष्ठा तथा अन्नदान, गोदान, ग्रामादि का दान इत्यादि करते हैं परन्तु भगवान के सगुण अथवा निर्गुण स्वरूप का ध्यान या उपासना नहीं करत हैं वे मृत्यु के बाद पितृयान (दक्षिणायन) मार्ग से चन्द्रमा की ज्योति के अभिमानी देवताओं के लोक पर्यन्त जाकर उस लोक का भोग समाप्त होने पर मर्त्यलोक में लौट आते हैं। इसमें से (क) शुक्लागति है और (ख) कृष्णागति है। किस प्रकार से वे गतियाँ होती है ? वह परवर्ती दो श्लोका में वर्णित किया गया है।

[जिस काल के सम्बन्ध में पूर्ववर्ती श्लोक में कहने की प्रतिज्ञा की उस काल के विषय में कहते हुए श्रीभगवान् अब प्रधान देवयान मार्ग का वर्णन कर रहे हैं।]

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ २४ ॥

अन्वय—अग्निः, ज्योतिः अहः, शुक्लः षण्मासाः उत्तरायणम् तत्र प्रयाताः ब्रह्मविदः जनाः ब्रह्म गच्छन्ति (क्रमेण)।

अनुवाद—सगुण ब्रह्म के उपासक लोग मृत होने पर (अर्थात् मृत्यु के पश्चात्) यथाक्रम से अग्नि, ज्योतिः, अहः (दिवस), शुक्लपक्ष, उत्तरायण रूप छः मास—सबके अभिमानी देवताओं के द्वारा अधिष्ठित (देवयान) पथ अवलम्बन कर ब्रह्म अर्थात् पहले कार्योपाधि (सगुण) ब्रह्म को एवं बाद में निर्गुण परम ब्रह्म को प्राप्त करके मुक्तिलाभ करते हैं।

भाष्यदीपिका—अग्निः ज्योतिः—कालाभिमानी देवता को ही अग्नि तथा ज्योति शब्द के द्वारा अभिहित किया गया है अथवा अग्नि तथा ज्योति को श्रुति में जिस प्रकार देवता कहा गया है उन अग्नि तथा ज्योति देवता को यहाँ सूचित किया गया है। जिसका आधिक्य रहता है उसके द्वारा ही जो अल्प है उसका निर्देश किया जाता है—ऐसा न्याय रहने के कारण अग्नि तथा ज्योतिः के देवता कालाभिमानी देवता न होने पर भी देवयान तथा पितृयान मार्ग में अनेक कालाभिमानी देवताओं का उल्लेख है एवं उन देवताओं में अग्नि तथा ज्योतिः के नाम का भी उल्लेख रहने के कारण अग्नि तथा ज्योतिः के अभिमानी देवता भी 'काल' शब्द के द्वारा उपलक्षित (प्रतिपादित) हो रहे हैं। जिसप्रकार किसी वन में आम के पेड़ अधिक रहने के कारण (दूसरे प्रकार के पेड़ रहने पर भी) लोग उस वन को आम्रवन ही कहा करते हैं, यहाँ भी 'काल' शब्द से अग्नि तथा ज्योतिः के अभिमानी देवताओं को भी ग्रहण किया गया है। [पूर्ववर्ती श्लोक की व्याख्या में 'काल' के सम्बन्ध में मधुसूदन सरस्वती ने जो कहा है वह द्रष्टव्य है] अहः–दिन का अधिष्ठाता देवता शुक्लः—शुक्ल पक्षाभिमानी देवता षण्मासाः उत्तरायणम्—उत्तरायण के छः महीनों का अभिमानी देवता। प्रश्न होगा कि अग्निज्योति इत्यादि शब्द से तत्तदभिमानी देवताओं का क्यों ग्रहण किया गया है ? उत्तर में कहा जायगा कि श्रुति में युक्ति के द्वारा ऐसा ही सिद्ध किया गया है इसलिये ब्रह्मसूत्र में कहा गया है—'अतिवाहिकास्तल्लिंगात्' (ब्र० सू० ४।३।४) अर्थात् अर्चिरादि शब्द के द्वारा आतिवाहिक चेतन देवता विशेषों को

अर्थात् अर्चिरादि शब्दों में तत्तदभिमानी चेतन देवताओं को ही समझा जाता है क्योंकि चेतन देवता ही आतिवाहिक हो सकते हैं अर्थात् वे देवयान इत्यादि मार्गाधिकारी व्यक्तियों को उपर्युक्त क्रम से एक लोक से दूसरे भोग्य लोक में वहन कर ले सकते हैं—अचेतन अर्चिरादि के द्वारा यह सम्भव नहीं है। तत्र—उस देवयान मार्ग में प्रयाताः—मृत्यु के बाद जो लोग प्रयाण करते हैं (इस लोक से दूसरे लोकों में गमन करते है) वैसे ब्रह्मविदः जनाः—(सगुण) ब्रह्म की उपासना में रत व्यक्तिगण [यहाँ 'ब्रह्मवित्' शब्द के द्वारा 'मैं निर्गुण प्रपंचरहित ब्रह्म हूँ' ऐसा ब्रह्मवित पुरुष को (तत्त्वज्ञानी को) नहीं समझाया जा रहा है। परोक्षरूप से जो लोग सगुण ब्रह्म को जान गये हैं एवं उसकी उपासना में ही रत रहते हैं उनको समझाया जा रहा है]।

ब्रह्म—पहले कार्योपाधिक ब्रह्म अर्थात् प्रजापति या हिरण्यगर्भलोक (ब्रह्मलोक) एवं बाद में शुद्धचैतन्यस्वरूप निर्विशेष पर ब्रह्म को गच्छन्ति (क्रमेण)—क्रम से प्राप्त होते हैं अग्नि ज्योतिः इत्यादि लोक अतिक्रमण कर कार्यब्रह्म अर्थात् ब्रह्मलोक में जाते हैं। इसलिए उस लोक की प्राप्ति क्रम से ही होती है। पुनः वहाँ (ब्रह्मलोक में) ज्ञान प्राप्त कर निरुपाधिक ब्रह्म का अपरोक्षानुभव करके क्रममुक्ति प्राप्त करते हैं। अतः वह भी क्रम से ही होता है। इसलिए 'गच्छन्ति' शब्द के पश्चात् 'क्रमेण' इस पद की योजना करने से ही अर्थ स्पष्ट होता है। प्रश्न हो सकता है कि ब्रह्मशब्द का मुख्यार्थ तो परब्रह्म सम्यग्दर्शननिष्ठ ब्रह्मवित् पुरुषगण परमब्रह्मको (निर्गुण अखण्डाद्वितीय परमात्मा को देवयान मार्ग से प्राप्त होते हैं ऐसा यदि कहा जाय तो उसके उत्तर में कहा जायगा कि नहीं, ऐसा नहीं कह सकते हो, क्योंकि जो लोग आत्मतत्त्वज्ञान प्राप्त किये हैं एवं सम्यग्दर्शननिष्ठ हैं अतः सद्योमुक्तिप्राप्ति के योग्य अधिकारी हुए हैं उनलोगों का मृत्यु के पश्चात् किसी लोक में गमन नहीं होता है क्योंकि उसके विषय में श्रुति कहती है कि 'उनके प्राण उत्क्रान्त नहीं होते हैं उनके प्राण ब्रह्म में ही सम्यक् प्रकार से लीन होते हैं अर्थात् वे लोग मृत्यु के पश्चात् तत्काल ब्रह्मस्वरूप ही हो जाते हैं। जो लोग सगुण ब्रह्म के उपासक हैं वे लोग ही उस उपासना के फलरूप से अग्नि प्रभृति आतिवाहिक देवताओं के द्वारा अधिष्ठित देवयान पथ का आश्रय कर क्रम से निर्विशेष ब्रह्म को प्राप्त होते हैं।

टिप्पणी (१) श्रीधर—पूर्ववर्ती श्लोक में जो कहा गया है उनमें से उस मार्ग के सम्बन्ध में अब कह रहे हैं जिससे जाने पर पुनः इस संसार में लौटना नहीं पड़ता है अग्निः ज्योतिः—श्रुति कहती है 'तेऽर्चिषमभि सम्भवन्ति (छा० उ० ५।१०।१) अर्थात् वे अर्चि को प्राप्त होते हैं। अतः यहाँ 'अग्नि' और 'ज्योति' शब्दों से अर्चि अभिमानी देवता को लक्ष्य कराया जा

रहा है। अहः—दिन के अभिमानी देवता शुक्ल—शुक्ल पक्ष के अभिमानी देवता षण्मासा उत्तरायणम्—उत्तरायणरूप छः मास के अभिमानी देवता। यह 'अग्निः' इत्यादि, पद श्रुति में कहे गये अन्य 'संवत्सर' और देवलोक आदि देवताओं का भी उपलक्षण कराने के लिये है इस प्रकार का जो मार्ग है उसमें जो भगवान् के उपासक लोग जाते हैं वे ब्रह्म को प्राप्त होते हैं क्योंकि वे ब्रह्मवेत्ता हैं। श्रुति भी कहती है (छा० उ० ५।१०।१२, छा० उ० ४।१५।५) वे अर्चि को प्राप्त होते है, अर्चि से दिन को, दिन से शुक्लपक्ष को, शुक्लपक्ष से उत्तरायण के छः महीनों को, उन महीनों से संवत्सरको संवत्सर से सूर्य को, सूर्य से चन्द्रमा को, चन्द्रमा से विद्युत को प्राप्त होते हैं। तदनन्तर अमानव पुरुष आता है। वह इनको ब्रह्म के पास पहुँचा देता है—यह देवमार्ग है, यह ब्रह्ममार्ग है। इसके द्वारा पहुँचे हुए लोग इस मनुष्यलोक में पुनः नहीं लौटते हैं—नहीं लौटते हैं इत्यादि। [यहाँ अर्चि, अहः (दिन) इत्यादि शब्द से तत तत् अभिमानी देवता को समझाया जा रहा है]। और जो सम्यग् दर्शन में अर्थात् तत्त्वज्ञान में निष्ठा (स्थिति) लाभ किये हैं वे सद्योमुक्ति (मृत्यु के साथ साथ ही मुक्ति को प्राप्त होते हैं, अतः उनकी कहीं भी गति नहीं होती है क्योंकि श्रुति कहती है—'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' (बृह० उ० ४।४।६) अर्थात् उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं।

(२) शंकरानंद—'योगिनः' इस शब्द के द्वारा उभय प्रकार के योगियों का समानरूप से निर्देश होने से एक ही काल में मृतव्यक्तियों की अपुनरावृत्ति एवं अन्य काल में मृतव्यक्तियों की तो पुनरावृत्ति होती है, अतः परलोक के व्यापार में कोई नियम नहीं है—इस प्रकार आशंका की निवृत्ति करने के लिये दोनों प्रकार के योगियों के 'स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते' (वह जैसा कामना-युक्त होता है, वैसा निश्चययुक्त होता है, जैसा निश्चययुक्त होता है, वैसा कर्म करता है, जैसा कर्म करता है, उसके अनुसार फल प्राप्त होता है) इत्यादि श्रुति बल से एवं 'क्रियाभेदात्फलभेदः' ('क्रिया के भेद से फल का भेद होता है') इस न्याय से नियत अयन-विभाग को (गति के भेद को) अब दिखा रहे हैं—'वे अर्चि को प्राप्त होते हैं, अर्चि से दिन को' इस श्रुति के द्वारा अग्नि के पश्चात् दिन ही सुनने में आता है, ज्योतिः नहीं, इसलिए इस स्थान में अग्नि से ज्योतिः प्राप्त होता है, इस प्रकार श्रुति से विरुद्ध बात कैसे कही जाती है ? (उत्तर) ऐसी शंका करना उचित नहीं है क्योंकि अर्चि शब्द अग्नि एवं ज्योतिः दोनों में ही साधारण रूप से प्रयुक्त होता है। इसलिए श्रुति में

जो 'अर्चि' से अभिहित है उसको ही इस स्थान में (अर्थात् गीता के वर्तमान श्लोक में) 'अग्निः ज्योतिः' कहा गया है, अतः कोई भी विरोध नहीं है।

अग्निः—उत्तरायण काल के अभिमानी देवता ज्योतिः—काल के अभिमानी देवता, अहः—दिन के अभिमानी देवता, शुक्लः—शुक्लपक्ष के अभिमानी देवता षण्मासाः—षण्मास (छः मासों) के अभिमानी देवता। संवत्सरादि का यह उपलक्षण है। उत्तरायणम्—जिस उत्तरायणकाल में पूर्वोक्त अग्नि आदि देवता काल के अभिमानी होकर स्थित रहते हैं तत्र—उस उत्तरायण में प्रयाताः—प्रयाण कर अर्थात् मरकर ब्रह्मविदः—ब्रह्मविद्गण जो लोग ब्रह्म को उपास्य रूप से जानते हैं वे ब्रह्मविद् हैं) अर्थात् ब्रह्मोपासक योगिगण उक्त क्रम से ब्रह्म गच्छन्ति–ब्रह्म में जाते हैं अर्थात् ब्रह्म को प्राप्त करते हैं, साक्षात् भाव से नहीं। 'स तेजसि सूर्ये संपन्नः' ('उस तेजोरूप सूर्य में वह सम्पन्न होता है') इस प्रकार कहकर श्रुति 'परात् परं पुरुषमीक्षते' ('पर से पर अर्थात् श्रेष्ठ से श्रेष्ठतम पुरुष को देखता है') इस वाक्य के द्वारा ब्रह्म-प्राप्ति का अन्तराल (मध्यवर्ती काल) श्रुति सुनाती है अर्थात् ब्रह्मलोक में गमन के पश्चात् कालान्तर में तत्त्वज्ञान का अनुभव तथा ब्रह्म की स्वरूपता प्राप्ति होती है, यह श्रुति सूचित करती है। 'सूर्य' शब्द अग्नि आदि का उप-लक्षण है। इसलिए योगी उक्त क्रम से ही ब्रह्म को प्राप्त होते हैं।

शंका—साधारणरूप से 'ब्रह्मविद्' शब्द का यहाँ प्रयोग होने के कारण ज्ञानियों को भी तो क्रममुक्ति प्राप्त होगी ?

समाधान—नहीं, यह शंका युक्त नहीं है, क्योंकि श्रुति में 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' ('उसका प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं') इस वाक्य के द्वारा ज्ञानियों के उत्क्रमण का अभाव (अर्थात् ज्ञानियों को सद्योमुक्ति प्राप्त होती है ऐसा) सुना जाता है एवं 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (ब्रह्म ही होकर ब्रह्म को प्राप्त होते हैं') इस वाक्य के द्वारा अन्तरालकाल का अभाव भी (अर्थात् देह की मृत्यु के पश्चात् ही ब्रह्मस्वरूपता प्राप्त होती है, ऐसा) श्रुति में कहा गया है। फिर 'अत्र ब्रह्म समश्नुते' ('यहाँ ब्रह्म को प्राप्त होता है') इत्यादि श्रुतियों के साथ विरोध होने के कारण भी ऐसी शंका करना उचित नहीं है। इस उत्तरायण काल के अभिमानी के रूप से जो अग्नि आदि देवताओं का उपन्यास किया गया है, उस अर्चिरादि मार्ग से दक्षिणायन में रात्रि आदि में मृत्यु प्राप्त उपासकगण भी ब्रह्म को प्राप्त होते हैं, इस नियम का तथा ब्रह्मविद् पुरुषों का तत्तत् लोक में जो विश्राम प्राप्त होता है उसका एवं वहाँ के सुख के अनुभव का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए।

(३) नारायणी टीका—अग्निः ज्योतिः अहः शुक्लः षण्मासाः

उत्तरायणम्—पहले ही कहा गया है कि इन शब्दों के द्वारा तत्तदधिष्ठित देवता को समझाया जा रहा है। अग्नि तथा ज्योतिः इन दोनों शब्दों के द्वारा अर्चिराभिमानी देवता को लक्ष्य कर कहा गया है अर्थात् अग्निः ज्योतिः—अर्चिरभिमानी देवता, अहः—दिन के अभिमानी देवता, शुक्लपक्षः—शुक्ल-पक्षाभिमानी देवता, षण्मासा उत्तरायणम्—उत्तरायणरूप छः मासों के अभिमानी देवता, इसप्रकार अन्यत्र। ये चेतन देवता आतिवाहिक हैं अर्थात् देवयानमार्ग से जानेवाला व्यक्ति किसी लोक में पहुँचने पर उसलोक के अभिमानी देवता उस व्यक्ति को भी उसके भोग के योग्य दूसरे लोक में पहुँचा देता है। श्लोक में जिन देवताओं का नाम उल्लिखित हैं। उनसे अतिरिक्त और भी कोई आतिवाहिक देवता के नाम श्रुति में वर्णित है। अतः उन देवताओं के नाम गीता में उल्लिखित नहीं रहने पर भी अग्नि—ज्योतिः इत्यादि शब्द उन देवताओं का भी उपलक्षण है अर्थात् अन्य जिन देवताओं के नाम इस श्लोक में उल्लिखित नहीं है उनको भी यहाँ अन्तर्भुक्त करना होगा, ऐसा समझना पड़ेगा। कुछ शब्दों के प्रयोग के द्वारा जब अतिरिक्त और भी अनेक तज्जातीय पदार्थ लक्षित होते हैं तब उन शब्दों को उपलक्षण कहा जाता है। श्रुति में देवयान मार्ग के सम्बन्ध में ऐसा कहा गया है—'तेऽर्चिष-मभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद् यान् षडुदङ्केति मासांस्तान् मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्याचन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते' (छा० उ० ५।१०।१-२, ४।१५।५) अर्थात् वे (पंचाग्नि विद्या के तथा सगुण ब्रह्म के उपासकगण) (१) अर्चि को प्राप्त होते हैं (२) अर्चि से अहः (३) अहः से आपूर्यमाणपक्ष (शुक्लपक्ष), (४) शुक्लपक्ष से उत्तरायण अर्थात् सूर्य जो छः महीने तक उत्तर की ओर गमन करते हैं उस छः मास रूप उत्तरायण (५) उत्तरायण से सम्वत्सर सम्वत्सर से आदित्य (७) आदित्य से चन्द्र (८) चन्द्रमा से विद्युत को प्राप्त होते हैं, उसके बाद अमानव (दिव्य) पुरुष आकर वहाँ से उनको ब्रह्मलोक में ले जाते हैं—यही देवपथ (देवयानमार्ग) है। इसे ब्रह्मपथ भी कहा जाता है। जो लोग इस मार्ग में गमन करते हैं वे लोग इस मनु के कल्प में और प्रत्यावर्तन नहीं करते हैं।' (पंचाग्नि विद्या प्रभृति के उपासक के सम्बन्ध में ही कहा गया है कि वे इस मनु के कल्प में और प्रत्यावर्तन नहीं करते हैं। किन्तु अन्य कल्प में प्रत्यावर्तन करते हैं अर्थात् ब्रह्मलोक में जाकर भी उनकी मुक्ति नहीं होती है। जो भगवान के उपासक हैं वे इस देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक में गमन कर ज्ञान प्राप्त कर क्रममुक्ति प्राप्त करते हैं। अतः

उनलोगों का और कभी भी पुनरावर्तन नहीं होता है (संसार में फिर लौटना नहीं पड़ता), यह पहले ही विस्तृत रूप से कहा गया है। छान्दोग्य श्रुति के साथ बृहदारण्यक श्रुति वाक्यों की एक वाक्यता रखकर देवयान मार्ग अथवा ब्रह्मपथ की गति इस प्रकार मानी जाती है—(१) अर्चिः से अहः (२) अहः से आपूर्यमाण पक्ष (३) आपूर्यमाण पक्ष (शुक्लपक्ष) से षण्मास उत्तरायण (४) षण्मास उत्तरायण से सम्वत्सर (५) सम्वत्सर से देवलोक (क) देवलोक से वायु (ख) वायु से आदित्य (ग) आदित्य से चन्द्र (६) चन्द्र से विद्युत (७) विद्युत से वरुण (क) वरुण से इन्द्र (ख) इन्द्र से प्रजापति या ब्रह्मलोक। छान्दोग्य श्रुति में देवलोक, वायु, वरुण, इन्द्र तथा प्रजापति का नाम उल्लेख नहीं किये जाने पर भी बृहदारण्यक श्रुति के साथ एकवाक्यता रखकर उनको अन्तर्भुक्त कर देवयान मार्ग की पूर्ति करनी पड़ेगी। अभिप्राय यह कि गीता में अग्नि, ज्योतिः, शुक्लपक्ष तथा उत्तरायण इत्यादि शब्दों का अर्थात् उनके अभिमानी देवताओं का उल्लेख है परन्तु सम्वत्सर, देवलोक, वायु, आदित्य, चन्द्रमा, विद्युत्, वरुण, इन्द्र तथा प्रजापति इन देवताओं का गीता में उल्लेख नहीं रहने पर भी उन्हें उपरि लिखित क्रम से देवयान मार्ग में अन्तर्भुक्त कर उक्त श्रुतियों की एकवाक्यता रखनी चाहिए।

[जीवितावस्था में जीवन्मुक्ति अवस्था प्राप्त नहीं कर सकने पर देवयान पथ में ही गमन करने के उद्देश्य से योगिओं का प्रयत्न करना कर्तव्य है, यही पूर्व श्लोक में सूचित किया गया है। अब देवयान मार्ग का प्रशंसा या स्तुति करने के लिए वर्तमान श्लोक में पितृयान मार्ग का वर्णन किया जा रहा है—]

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ २५ ॥

अन्वय—धूमः रात्रिः कृष्णः तथा षण्मासाः दक्षिणायनम् तत्र योगी चान्द्रमसं ज्योतिः प्राप्य निवर्तते।

अनुवाद—धूमाभिमानी देवता, रात्रिदेवता, कृष्णपक्ष देवता तथा दक्षिणायन छः महीने का अभिमानी देवता इनके द्वारा उपलक्षित मार्ग में (पितृयान मार्ग में) गमन कर यज्ञादि कर्मानुष्ठानकारी (कर्मयोगी) चन्द्रलोक का (स्वर्ग का) भोग अनुभव कर (कर्मक्षय होने पर) संसार में पुनः आगमन करते हैं।

भाष्यदीपिका—धूमः—धूमाभिमानी देवता।

रात्रिः—रात के अभिमानी देवता।

कृष्णः—कृष्णपक्षाभिमानी देवता।

षण्मासाः दक्षिणायनम्—दक्षिणायन के छः महीने का अभिमानी

देवता। इन देवताओं के द्वारा उपलक्षित अर्थात् ये देवताएँ जिस पितृयान मार्ग में आतिवाहिक के रूप में कार्य करते हैं तत्र—उस मार्ग में (पथ में) योगी—कर्मी अर्थात् यागादि (इष्ट, पूर्त तथा दानादि) कर्म के अनुष्ठानकर्ता कर्मयोगी। चान्द्रमसं ज्योतिः—उस चन्द्रलोक का भोगरूप फल [चन्द्रलोक में अपने अपने कर्म के फलरूप से भोग करने के योग्य जो सुख है उसको ही यहाँ 'ज्योतिः' शब्द के द्वारा अभिहित किया गया है।]

प्राप्य—प्राप्त होकर अर्थात् भोग कर निवर्तते—(उस भोग के द्वारा कर्म का क्षय होने पर) पुनः इस संसार में प्रत्यावर्तन करते हैं। 'यावत् सम्पातम्' (छा० उ० ५।१०।५) अर्थात् जब तक कर्मभोग का क्षय न हो तबतक चन्द्रलोक में रहकर बाद में संसार में लौट आते हैं। [उक्त श्रुति वचन में 'सम्पातम्' शब्द का अर्थ है जिस कारण से सम्पतित अर्थात् सम्यक् प्रकार से संसार में पतित होता है उसको सम्पात अर्थात् कर्मक्षय कहा जाता है।] यह कृष्णमार्ग (पितृयान मार्ग) आवृत्ति मार्ग है इससे अनावृत्ति मार्ग अर्थात् देवयान मार्ग अधिक वाञ्छनीय (प्रशस्त) है, यही इस श्लोक में कहने का अभिप्राय है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—जिस मार्ग से जाने पर पुनः लौटना पड़ता है वह मार्ग अत्र बताते हैं—धूमः—धूमाभिमानी देवता। इसप्रकार रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायनरूप मासों के अभिमानी तीन देवताओं को उपलक्षित कराये रहेगा। इन देवताओं से उपलक्षित जो मार्ग है उसमें जो कर्मयोगी (सकाम कर्मी) जाता है वह चन्द्रमा की ज्योति को अर्थात् उससे उपलक्षित स्वर्गलोक को पाकर वहाँ इष्ट और पूर्त कर्मों का फल भोगकर पुनः संसार में लौट आता है। श्रुति इस मार्ग के सम्बन्ध में इसप्रकार कहती है—(इष्ट पूर्त कर्मों के अनुष्ठान करनेवाला पुरुष) धूम को प्राप्त होते हैं—धूम से रात्रि को, रात्रि से कृष्णपक्ष को, कृष्णपक्ष से दक्षिणायन के छः महीनों को प्राप्त हो ये संवत्सर को नहीं प्राप्त होते हैं। दक्षिणायनरूप छः महीनों से वे पितृलोक को, पितृलोक से आकाश को, आकाश से चन्द्रमा को प्राप्त होते हैं। यह सोमराजा है—उसे देवता लोग भक्षण करते हैं जबतक यहाँ से पतन न हो तबतक वहाँ कर्मयोगी निवास करके पुनः उसी मार्ग से वे संसार में लौट आते हैं इत्यादि (छा० उ० ५।१०।३–५)। इसप्रकार निवृत्ति कर्म के साथ उपासना से क्रममुक्ति, काम्यकर्मों से स्वर्ग भोग के पश्चात् पुनः लौट कर आना, निषिद्ध कर्मों से नरक भोग के बाद पुनः लौटना तथा क्षुद्र कर्म करनेवाले जीवों का अन्य योनियों में बारबार जन्मग्रहण करना—इन सब प्रकार की गतियों को समझ लेना चाहिए।

(२) शंकरानंद—कर्मिओं के स्वकृत कर्मफलानुसार आरोह अवरोह होने के कारण कर्म का फल दुःख ही है ऐसा श्रुति से जानकर कर्मानुष्ठानकारी

पुरुष को विवेक एवं वैराग्य के द्वारा ब्रह्मज्ञान के सम्पादन में प्रयत्नशील होना चाहिए, ऐसा समझाने के लिए दक्षिणायन में जो लोग गमन करते हैं उनको क्या फल होता है इसको कहते हैं धूमः—धूम के अभिमानी देवता रात्रिः—रात्रि के अभिमानी देवता कृष्णः—कृष्णपक्ष के अभिमानी देवता षण्मासाः—छः मासों का अभिमानी देवता ये जो दक्षिणायनम्—दक्षिणायन में काल के अभिमानी होते हैं, तत्र—उस दक्षिणायन में गमन करने वाला योगी--(कर्म योगी) चान्द्रमसम्—चन्द्रलोक को प्राप्त होकर यहाँ चन्द्र से प्राप्त ज्योतिः—कर्मफल को अर्थात् इष्ट, पूर्त आदि पुण्यकर्म से उत्पन्न फल को प्राप्य—प्राप्त कर अर्थात् उक्त फल का अनुभव कर 'कृतात्ययेऽनुशयवान्' ('पुण्य क्षय होने पर अनुशयवान्') इस न्याय के द्वारा कर्मफलभोग का क्षय होने पर शेष कर्मों के फल का अनुभव करने के निमित्त निवर्तते-निवर्तन करते हैं (संसार में पुनः लौट आते हैं) अर्थात् उसी मार्ग द्वारा विलोम क्रम से मनुष्यलोक में पुनः आते हैं एवं पुनः जाते हैं। इस प्रकार आवागमनजनित दुःख का और अन्त नहीं है हाय ! अविवेकी को बहुत ही कष्ट है ! यही सूचित किया जा रहा है।

(३) नारायणी टीका—धूमः रात्रिः तथा कृष्णः षण्मासाः दक्षिणायनम्-(१) यहाँ भी पूर्व श्लोक की व्याख्या जिस प्रकार की गई है उसके अनुसार धूम, रात्रि प्रभृति शब्द तत्तत् अभिमानि देवता को लक्ष्य कर कहा गया है।

(२) श्रुति में पितृयान मार्ग के सम्बन्ध में जिन देवताओं का उल्लेख है वे गीता में उल्लिखित देवताओं की संख्या से अधिक है। अतः वे देवता गीता में उल्लिखित नहीं रहने पर भी धूम रात्रि प्रभृति शब्द को उन देवताओं का उपलक्षण (ज्ञापक) के रूप से ग्रहण करना पड़ेगा अर्थात् पितृयान मार्ग में अन्य जिन देवताओं के सम्बन्ध में श्रुति में कहा गया है उनको भी यहाँ अन्तर्भुक्त कर मार्ग की पूर्ति करनी पड़ेगी। श्रुति में कहा गया है—'अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तामित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद् यान्षड्दक्षिणैति मासांस्तान्नैते सम्वत्सरमभिप्राप्नुवन्ति। मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति। तस्मिन् यावत्संपातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते (छा० उ० ५।१०।३-५) अर्थात् जो लोग ग्राम में रहकर इष्ट, पूर्त, दानादि का अनुष्ठान करते हैं अर्थात् गृहस्थजीवन बिताते हैं वे मृत्यु के बाद (१) धूम को प्राप्त होते हैं (२) धूम से रात्रि को (३) रात्रि से अपरपक्ष (कृष्णपक्ष) को (४) अपरपक्ष से सूर्य जो छः महीने तक दक्षिण की ओर गमन करते हैं, उन छः महीनों से उपलक्षित दक्षिणायन को प्राप्त होते हैं। (ये देवयान पथ के समान सम्वत्सरदेवता को नहीं प्राप्त होते हैं) (५)

दक्षिणायन छः मासों से ये पितृलोक को (६) पितृलोक से आकाश को एवं (७) आकाश से चन्द्रमा को प्राप्त होते हैं। यह सोमराजा है। जो चन्द्रलोक में गमन करते हैं वे देवगणों का अन्न होते हैं (देवतागण उनको भक्षण करते हैं) अर्थात् उनलोगों को देखकर देवगण भोजनजनित तृप्ति अनुभव करते हैं। जबतक स्वकृत कर्मों का (अपने-अपने कर्म का) क्षय न हो तबतक चन्द्रलोक में रहकर सुखभोग करते हैं एवं उसके बाद कर्म फल के क्षय होने से जिस पथ में जिस क्रम से गमन किये थे उस पथ के द्वारा विलोम क्रम से पुनः (संसार में) प्रत्यावर्तन करते हैं। उपर उल्लिखित श्रुति वचन से यह स्पष्ट होता है कि गीता में उक्त धूमादि देवता से अतिरिक्त आकाश, चन्द्रमादि देवता भी पितृयान मार्ग में आतिवाहिक रूप से कर्म करते हैं। अतः इनका पृथग् रूप से गीता में उल्लेख न रहने पर भी इन्हें अन्तर्भुक्त कर गीता के साथ श्रुति का समन्वय (सामञ्जस्य) कर मार्ग की पूर्ति करना चाहिए।

(१) चान्द्रमसं ज्योतिः प्राप्य निवर्तते—जो लोग फलाकांक्षारहित होकर कर्म तथा उपासना करते हैं वे [देवयान मार्ग में ब्रह्मलोक में गमन कर] क्रममुक्ति प्राप्त होते हैं। सकाम उपासकों का [(कर्मयोगियों का) पितृयान मार्ग से चन्द्रलोक में या स्वर्ग में गमन कर स्वर्ग सुख के भोग के अनन्तर पुनरावृत्ति होती है। निषिद्ध कर्मकारियों की नरक भोग के अनन्तर पुनरावृत्ति होती है एवं नीच योनि प्राप्त होती है अर्थात् वे कुत्ता, सूकर अथवा चण्डाल योनि में जन्म लेते हैं। क्षुद्रकर्मा जन्तुओं का अर्थात् विद्या (उपासना) तथा कर्मशून्य पशुपक्षियों का लोकान्तर में गमनागमन नहीं होता है। वे इहलोक में ही पुनः पुनः जन्मग्रहण करते हैं एवं मरते हैं। सकाम उपासकगण स्वर्ग-भोग के अनन्तर किस प्रकार से संसार में पुनर्जन्म के लिए लौट आते हैं इसका श्रुति इसप्रकार वर्णन करती हैं—"तस्मिन् यावत् सम्पातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते। यथेतमाकाशाद् वायुम्, वायुर्भूत्वा धूमो भवति, धूमो भूत्वाभ्रं भवति। अभ्रं भूत्वा मेघो भवति, मेघो भूत्वा प्रवर्षति, ते इह व्रीहि-यवा औषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते अतो वै खलु दुर्निष्प्रतरं यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतःसिंचति तद्भूय एव भवति' (छा० उ० ५।१०।६) अर्थात् कर्मफल क्षय होने तक चन्द्रलोक में अवस्थान कर उसके बाद जिस क्रम से पितृयान मार्ग से चन्द्रलोक में जीव गया था (उसके विलोम क्रम से) उस पथ से पुनः प्रत्यावर्तन करता है अर्थात् चन्द्रमा से आकाश को आकाश अथवा अन्तरीक्ष लोक से वायु को वायु से धूमरूप हो जाता है। धूम से बादल होता है। बादल से मेघ होता है, मेघ वर्षा करता है अर्थात् बादल से जल वर्षण करने में समर्थ मेघ की उत्पत्ति होती है, मेघ से वारिधारा भूमि में

गिरती है। तब वे जीव वर्षा के साथ आकर चावल, जौ, वनस्पति (तृणलता), तिल, उड़दादि के रूप में उत्पन्न होते हैं। इन व्रीहि जौ आदि अवस्था से जीव का निर्गमन (निकलना)] बड़ा ही क्लेशकर होता है। बाद में उन व्रीहि जौ आदि को जो जो मनुष्य खाता है एवं रेतः सिंचन करता है प्राय उसके अनुरूप ही आकृति की सन्तान प्राप्त होती है (अर्थात् अन्न से और उस उत्पन्न वीर्य से उस मनुष्य की सन्तान तदनुरूप ही उत्पन्न होती है। [व्रीहि जौ आदि उस जीव को भोग देह नहीं होती हैं। जीव केवल उनको आश्रय कर रहता है। विशेषतः जीव उस समय में संज्ञाशून्य होकर केवल कर्मसूत्र के द्वारा आबद्ध होकर अवशभाव से व्रीहि जौ आदि में प्रविष्ट होता है। अतः उस अवस्था में उसका कोई अनुभव नहीं रहने के कारण व्रीहि जौ आदि के पेषण से जीव को कोई क्लेश नहीं होता है।] इनमें से जो पूण्यकर्मवाले हैं वे स्वकर्मानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, अथवा वैश्ययोनि को प्राप्त होते हैं। जो अशुभ कर्मवाले हैं वे शीघ्र ही नीच योनि को प्राप्त होते हैं। इस श्लोक में यही भगवान् के कहने का अभिप्राय है।

[पूर्व दो श्लोकों में जो कहा गया है उसका अत्र उपसंहार किया जा रहा है।]

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः ॥ २६ ॥

अन्वय—जगतः एते शुक्लकृष्णे हि गती शाश्वते मते; (तत्र) एकया अनावृत्तिं याति अन्यया पुनः आवर्तते।

अनुवाद—जगत् की शुक्ल तथा कृष्ण ये दो प्रकार की गतियाँ चिरन्तन हैं। इन दो गतियों में से एक गति के द्वारा (शुक्लगति के द्वारा) अनावृत्ति (मोक्ष) प्राप्त करना सम्भव है एवं अपर के द्वारा (कृष्णगति के द्वारा) पुनरावर्तन होता है (संसार में लौटना पड़ता है)।

भाष्यदीपिका—जगतः—जगत में (ज्ञानमार्ग तथा कर्ममार्ग के अधिकारी पुरुषों का)। यहाँ ज्ञान मार्ग के अधिकारी रूप से सगुण ब्रह्म की उपासना में रत पुरुष को और कर्ममार्ग के अधिकारी रूप से इष्ट पूर्त तथा दान आदि कर्म के अनुष्ठानकारी पुरुष को सूचित किया जा रहा है। जगत् के सभी जीवों की उन दोनों प्रकार की गतिओं में से कोई एक गति प्राप्त होगी ही ऐसी बात नहीं हैं क्योंकि जो लोग जीवितावस्था में ज्ञान तथा कर्म मार्गों में से किसी का भी अनुसरण नहीं करते हैं उनको शुक्ल या कृष्ण इन दोनों में से कोई भी गति प्राप्त नहीं होती है वरन् उनलोगों को अत्यन्त अधोगति प्राप्त होती है (छा० उ० ५।१०।७-८)। एते—पूर्ववर्ती दो श्लोकों में जिनके

सम्बन्ध में कहा गया है ये प्रसिद्ध शुक्लकृष्णे हि गती—शुक्ल तथा कृष्ण दो गतियाँ ज्ञान की प्रकाशक होने के कारण (अर्थात् ब्रह्मलोक में गमन कर ब्रह्मविद्या प्राप्त करना सम्भव है इसलिए अग्नि ज्योति इत्यादि मार्ग प्रकाशात्मक होने के कारण इसको देवयान मार्ग (शुक्लागति) कही जाती है। दूसरी गति में ज्ञान के प्रकाश की सम्भावना नहीं रहती है तथा धूमादि रूप अप्रकाश से युक्त होने के कारण वह गति अविद्यारूप अन्धकार से आच्छन्न रहती है। अतः उस गति को कृष्णगति (पितृयान मार्ग) कही जाती है। ये दोनों गतियाँ श्रुति तथा स्मृति में प्रसिद्ध हैं, इसे समझाये जाने के लिए 'हि' शब्द का प्रयोग किया गया है।] शाश्वते मते-इन दोनों गतियों को नित्य माना जाता है (व्यवहारिक दृष्टि से) संसार नित्य (तथा अनादि) है। अतः शास्त्रज्ञ व्यक्तिगण शुक्ल तथा कृष्ण इन दोनों गतियों को शाश्वत अर्थात् नित्य तथा अनादि कहते हैं। [जबतक तत्त्वज्ञान का उदय नहीं होता है तबतक ही ये दोनों गतियाँ नित्य प्रतीत होती हैं जैसे कि जबतक स्वप्न दिखता है तबतक स्वप्न के सभी दृश्य ही नित्य प्रतीत होते हैं। तत्त्वज्ञान की दृष्टि से जगत् जागतिक कार्य, गति, मुक्ति सभी मिथ्या हो जाते हैं। (तत्र) एकया अनावृत्तिं याति-(इन दोनों गतियों में से) एक के द्वारा अर्थात् शुक्ल गति के द्वारा मुमुक्षु अनावृत्ति प्राप्त होते हैं अर्थात् शुक्ल गति के द्वारा, ब्रह्मलोक में गमन कर ज्ञान प्राप्त कर (क्रममुक्ति प्राप्त कर) और संसार में प्रत्यावर्तन नहीं करते हैं।

अन्यया पुनः आवर्तते—दूसरी (इतर) गति के द्वारा अर्थात् कृष्ण-गति के द्वारा पुनः [अर्थात् चन्द्रलोक के भोग का क्षय होने पर अवशिष्ट कर्मफल भोग करने के लिए पुनः उनको संसार में आना पड़ता है।] कृष्णगति से (पितृयान मार्ग से) जो लोग गमन करते हैं उन सभी को ही लौटना पड़ता है, यही कहने का अभिप्राय है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—पूर्व श्लोकों में उक्त शुक्ल व कृष्ण मार्गों का उपसंहार करते हैं—एते शुक्लकृष्णे गती—अर्चिरादि गति शुक्ल है क्योंकि वह प्रकाशमय है और धूमादिगति कृष्णा है क्योंकि वह अन्धकारमय (अज्ञानमय) है—ये दोनों गतियाँ (मार्ग) जगतः शाश्वते मते—जो लोग ज्ञान व कर्म के अधिकारी हैं उनके लिये शाश्वत (अनादि) माने गये हैं। ससार अनादि है अतः संसार में भ्रमणकारी व्यक्तियों के लिए ये दोनों मार्ग भी अनादि (शाश्वत) है। एकया याति अनावृत्तिम् अन्यया पुनः आवर्तते—उनमें से एक के द्वारा अर्थात् शुक्लगति द्वारा तो (संसार से) निवृत्ति (मोक्ष) प्राप्त होती है और दूसरी कृष्णगति से गमन कर पुनः संसार में लौट आता है।

(२) शंकरानंद—क्या गृहस्थों को यह दुःख कभी कभी ही होता है ? इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं—शुक्लकृष्णे—(क) ज्ञान तथा

प्रकाश की अधिकता रहने के कारण, (ख) अग्नि आदि देवताओं के द्वारा अधिष्ठित होने के कारण, (ग) विद्या के द्वारा प्राप्य होने के कारण, (घ) प्रकाशवान् लोकों का आधिक्य होने के कारण एवं (ङ) अन्त में ब्रह्म-प्राप्ति का हेतु होने के कारण देवयानरूप गति श्रेष्ठ है एवं इसलिये यह शुक्ल हैं। (१) अल्प प्रकाश वाले देवताओं के द्वारा अधिष्ठित होने के कारण, (२) धूम का आधिक्य होने के कारण एवं (३) पुनः संसार का हेतु होने कारण निकृष्ट होने से पितृयानरूप गति कृष्ण है। इसप्रकार निर्मल एवं मलीन स्वभावसम्पन्न एते–ये दो पूर्वोक्त गती–शुक्ल तथा कृष्ण गति (मार्ग) जगतः—जगत् के अर्थात् लोक को (इस स्थल में 'जगत्' शब्द के द्वारा ज्ञान तथा कर्म के अधिकारियों को ही सूचित किया जा रहा है, अन्य जो लोग केवल प्राकृत (अर्थात् ज्ञान तथा कर्मशून्य) हैं उनको नहीं, क्योंकि उनका ज्ञान एवं कर्म में अधिकार नहीं है। इसके द्वारा ज्ञान एवं कर्म के अधिकारियों के ही मोक्ष के लिए एवं कर्मफल के अनुभव के लिए श्रुति में प्रसिद्ध इन मार्गों को शाश्वते मते—शाश्वत माना गया है। [क्योंकि श्रुति में कहा है–'कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः' अर्थात् कर्म से पितृलोक एवं विद्या से देवलोक इत्यादि] जीव (स्वरूपतः) अनादि, नित्य एवं अनन्त है, इसलिए उसका जबतक संसार है, तबतक स्वर्गसिद्धि के लिए एवं मोक्ष की सिद्धि के लिए ये दोनों मार्ग भी नित्य हैं, इस प्रकार उन दोनों के नित्यत्व का प्रतिपादन कर उनका नियत फल क्या है ? वह अब कह रहे हैं—इन उभय गतियों में से एकया–एक के द्वारा अर्थात् शुक्ल गति के द्वारा विद्वान् अनावृत्तिम्–अनावृत्ति को अर्थात् मुक्ति को याति–प्राप्त होते हैं क्योंकि 'न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते' ('पुनः नहीं लोटता है, पुनः नहीं लौटता है') ऐसी श्रुति है। अन्यया–अन्य के द्वारा अर्थात् कृष्ण गति के द्वारा अविद्वान् पुनः–फिर जन्ममृत्यु-रूप संसार के लिए आवर्तते—आवर्तन करता है अर्थात् लौट आता है क्योंकि 'प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेह करोत्ययम्। तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे' जीव जो कुछ कर्म यहाँ करता है, परलोक में उस कर्मफल को भोग कर, उस लोक से पुनः इस लोक में कर्म करने के लिए आता है ऐसी श्रुति है।

(३) नारायणी टीका—पूर्ववर्ती श्लोकों में उक्त शुक्ल तथा कृष्ण इन जगत् की दोनों गतियों को शास्त्रज्ञ पुरुषगण शाश्वत (नित्य) मानते हैं। यहाँ जगत् की शब्द का अर्थ है ज्ञान तथा कर्म में अधिकारी पुरुष की। जो लोग ब्रह्म के स्वरूप को गुरु तथा शास्त्रों से जानकर सगुण भाव की उपासना तथा ध्यान का अवलम्बनरूप से ग्रहण कर भगवत्प्राप्ति के लिये अभ्यास करते करते देहत्याग करते हैं वे क्रमशः ज्ञान के अधिकारी होने के

कारण शुक्लगति को (देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक) प्राप्त होते हैं एवं वहाँ तत्त्वज्ञान प्राप्त कर मुक्त होते हैं अर्थात् उनका संसार में पुनरावर्तन (पुनर्जन्म) नहीं होता है। और जो लोग शास्त्रविहित कर्म करते हैं परन्तु ज्ञान से रहित होकर केवल कामना (वासना) की सिद्धि के लिये ही उन कर्मों को करते हैं वे मृत्यु के पश्चात् कृष्णगति (पितृयान मार्ग) से स्वर्गादि लोक में गमन करते हैं एवं वहाँ पुण्य कर्मों का फलभोग कर पुनः संसार में लौटते हैं एवं जन्ममृत्यु के चक्र में भ्रमण करते हैं अन्त में ब्रह्मस्वरूप के ज्ञान का प्रकाश करने में सहायक होने के कारण देवयान मार्ग को (अर्चिरादि मार्ग को) शुक्ल कहा जाता है और पितृयान (धूमादि) मार्ग ज्ञान के प्रकाश से रहित होने के कारण कृष्ण कहा जाता है। अतः भगवान के ध्यान में निष्ठ योगी की शुक्लगति एवं सकाम कर्मों की कृष्णगति श्रुतिस्मृति शास्त्रों में प्रसिद्ध है—यह सूचित करने के लिये श्लोक में 'हि' शब्द का प्रयोग किया गया है। जबतक ज्ञान का पूर्णरूप से प्रकाश न हो अथवा सकाम कर्म में मनुष्य आसक्त रहे तबतक संसार अनादि तथा प्रवाहरूप से नित्य है। अतः शास्त्रविहित उपाय से सगुण ब्रह्म की उपासना करनेवाले को शुक्लगति एवं सकामभाव से शास्त्रसिद्ध कर्म करनेवाले की कृष्णगति होगी ही अर्थात् इसप्रकार गति भी शाश्वत अर्थात् नित्य ही मानी जाती है। किन्तु जिस योगीने जीवितावस्था में ही तत्त्वज्ञान प्राप्त किया है अतः 'योऽकामो निष्काम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवलीयन्ते ब्रह्मैव स ब्रह्माप्येति' अर्थात् जो अकाम, निष्काम एवं आप्तकाम हो गये हैं उनके प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं। वे जीवितावस्था में ही ब्रह्मस्वरूपता को प्राप्त होते हैं एवं मृत्यु के पश्चात् ब्रह्म में लीन होते हैं अर्थात् शुक्ल अथवा कृष्णगति उनकी नहीं होती है क्योंकि उनकी दृष्टि में सभी ब्रह्मस्वरूप होने के कारण जगत् भाव लुप्त हो जाता है। शुक्ल या कृष्णगति तो उसके लिए ही नित्य है जिसकी दृष्टि में मनःकल्पित जगत् प्रतीत होता है। यही 'जगतः शाश्वते मते' पद का तात्पर्य है।

जो लोग शास्त्रानुसार उपासना या कर्म नहीं करते हैं वे तो शुक्ल तथा कृष्ण उभय मार्ग से भ्रष्ट होकर कर्मवश अशेष क्लेशमय नीच योनि में भ्रमण करते हैं अर्थात् पुनः पुनः जन्म लेते हैं एवं पुनः पुनः मरते हैं।

प्रश्न होगा कि मृत्युकाल में तो जीव मूर्च्छावस्था को प्राप्त होते हैं अतः उनके लिये लोकान्तर में गमन तथा उससे आगमन किस प्रकार से सम्भव है ? इसके उत्तर में श्रुति आदि शास्त्र कहते हैं कि अर्चिरादि मार्ग में अर्चि से लेकर विद्युत् पर्यन्त तत्तत् अभिमानी देवता रहता है। मृत्यु के पश्चात् जीव जड़वत् रहने से भी तत्तत् देवता जीव को वहन कर दूसरे स्थान में पहुँचा देता है। धूमादिरूप कृष्णमार्ग में भी ऐसा ही नियम है।

[जिन दो गतियों के सम्बन्ध में पूर्ववर्ती तीन श्लोकों में कहा गया है उनमें से शुक्लगति ही बुद्धिमान् व्यक्ति का उपास्य है अर्थात् उसी का ही बुद्धिमान् व्यक्ति अवलम्बन करने के लिए प्रयत्न करते हैं। गतियों का विशेष ज्ञान रहने से ही एक को छोड़कर दूसरे को ग्रहण करना सम्भव है, इसलिए इन दोनों गतियों की विशेष ज्ञान की (विज्ञान की) प्रशंसा इस श्लोक में कर रहे हैं—]

नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ २७ ॥

अन्वय—हे पार्थ ! एते सृती जानन् कश्चन योगी न मुह्यति तस्मात् हे अर्जुन ! सर्वेषु कालेषु योगयुक्तः भव ।

अनुवाद—हे पार्थ ! जो योगी इन दोनों गतियों के परिणाम भलोभाँति जान लिये हैं वे (कभी भी) मोह प्राप्त नहीं होते हैं। अतः हे अर्जुन ! तुम सर्वकाल में (निरन्तर) योगयुक्त रहो ।

भाष्यदीपिका—हे पार्थ ! हे अर्जुन !—हे पृथापुत्र अर्जुन ! [श्रीभगवानने १६ वें श्लोक में कौन्तेय तथा अर्जुन इन दो प्रकार के सम्बोधनों का प्रयोग जिस अभिप्राय से किया यहाँ भी उस अभिप्राय से ही 'पार्थ' तथा 'अर्जुन' कहकर सम्बोधन किया ।] एते सृती जानन्—जिनके सम्बन्ध में पहले कहा गया है उन मार्गों को जानकर अर्थात् उनमें से एक शुक्लगति क्रममुक्ति रूप फल प्रदान करती है एवं दूसरी कृष्णगति संसार में पुनरावृत्ति का कारण होती है, इस प्रकार निश्चितरूप से जानकर कश्चन योगी—कोई भी परमात्मा के ध्यान में प्रवृत्त योगी न मुह्यति—मोह प्राप्त नहीं होता है अर्थात् उपासना से शून्य अथवा ईश्वरार्पण बुद्धि से शून्य किन्तु फलाकांक्षा से युक्त इष्ट पूर्तादि कर्म (जो धूमादि दक्षिणमार्ग अर्थात् कृष्णगति प्राप्त करता है उसी को) एकमात्र कर्तव्य के रूप से अवलम्बन नहीं करता है। तस्मात्—अतः योग से (अर्थात् ईश्वरोपासना के द्वारा चित्त परमेश्वर में स्थित रहने से) अपुनरावृत्ति रूप फल अर्थात् सद्योमुक्ति या क्रममुक्ति रूप फल प्राप्त होता है । इसलिये सर्वेषु कालेषु—सभी समय में ही अर्थात् निरन्तर अविच्छिन्न रूप से योगयुक्तः भव—समाहित चित्त होओ अर्थात् चित्त को भगवान् में समाहित रखो ताकि सद्योमुक्ति प्राप्त नहीं होने पर भी क्रममुक्तिफल देनेवाली जो शुक्लगति है वह मृत्यु के पश्चात् प्राप्त हो सके ।

टिप्पणी (१) श्रीधर—शुक्ल व कृष्ण मार्गों के सम्बन्ध में ज्ञान रहने पर क्या फल लाभ होता है वह दिखाकर अब भक्तियोग का उपसंहार करते हैं—हे पार्थ! एते सृती पार्थ जानन् कश्चन योगी—मोक्षप्रद और संसारप्रद इन दोनों सृति अर्थात् मार्गों को जिस किसी भी योगी ने (साधक ने) जान लिया वह न मुह्यति—मोहित नहीं होता अर्थात् स्वर्ग सुखदायक होगा इस बुद्धि से

स्वर्गादि फल की कामना नहीं करता किन्तु परमेश्वरनिष्ठ होता है अर्थात् परमेश्वर को ही जीवन की लक्ष्य वस्तु मानकर उसमें निष्ठा (स्थिति) लाभ करने के लिये निरन्तर प्रयत्न करता है। यस्मात्—इसलिये हे अर्जुन! सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भव-[तुम समस्त काल में (सर्वदा, निरन्तर) योगयुक्त (परमेश्वर के साथ योग अर्थात् एकत्वबोध के लिये युक्त हो अर्थात् परमेश्वरनिष्ठ हो)।]

(२) शंकरानंद-शुक्ल-गति का फल मोक्ष एवं कृष्ण गति का फल बन्धन है, इस प्रकार उभयगतियों के स्वरूप, फल तथा कारण को जानने वाले विद्वान को इस विषय में प्रमाद करना उचित नहीं है, ऐसा सूचित करने के लिए कह रहे हैं-

एते—पूर्वोक्त लक्षणयुक्त उत्तरायण तथा दक्षिणायन नामक इन सृति-मार्गद्वय को जानन्—जानकर अर्थात् श्रुति, स्मृति एवं युक्ति के द्वारा एक मोक्ष का तथा दूसरा बन्धन का हेतु है, यह सम्यग्रूप से जानकर कश्चन—कोई भी योगी—योगी (मोक्षेच्छा से योगनिष्ठा में प्रवृत्त हंस अथवा परमहंस मुमुक्षु) न मुह्यति—मोहग्रस्त नहीं होता है। मोक्ष मार्ग के विरोधी मार्ग के स्मरण का नाम है मोह। प्रमादवश उस मोह का अवलंबन नहीं करते हैं। इससे यही सूचित किया जा रहा है कि मुमुक्षु को कभी भी योगनिष्ठा में प्रमत्त (प्रमादग्रस्त) होना उचित नहीं है। जिस कारण से इन गतियों में बन्धन तथा मोक्ष का कारण (हेतुता) प्रसिद्ध है तस्मात्—इसलिए यदि तुम मुमुक्षु हो, तो सर्वेषु कालेषु-सकल समय में अर्थात् आहार, शयन, आसन आदि में भी सर्वदा योगयुक्तः भव—योगयुक्त होओ। अर्थात् ब्रह्मानुसन्धान ही करो, कभी भी बाह्य पदार्थ का अनुसन्धान मत करो, यही कहने का अभिप्राय है।

(३) नारायणी टीका—अनेक जन्मों की सुकृति के फलस्वरूप ईश्वर-भक्ति उत्पन्न होने से निरन्तर अनुचिन्तन के द्वारा ईश्वर में चित्त को समाहित (स्थिर) रखना सम्भव है। ऐसा करने में जो समर्थ होते हैं वे ही मृत्यु के बाद शुक्लगति (देवयान मार्ग) प्राप्त कर ब्रह्मलोक में ज्ञानप्राप्त कर क्रममुक्ति प्राप्त करते हैं। अतः ऐसे योगी विरले ही हैं। तब भी जो शुक्ल तथा कृष्ण गति का तत्त्व विशेषरूप से जान गया है वह बुद्धिमान् योगी कभी भी मुग्ध नहीं होता है अर्थात् सुखबुद्धि से जिन कर्मों के द्वारा कृष्णगति से स्वर्गादि प्राप्त होते हैं उन कर्मो के प्रति आसक्त नहीं होता है अर्थात् कृष्णगति प्राप्त करानेवाले कर्मों को जीवन के कर्त्तव्य के रूप से अवलम्बन नहीं करेगा किन्तु कम से कम अन्त में जिससे देवयान मार्ग से क्रममुक्ति प्राप्त कर सके उसके लिए परमात्मा में निरन्तर ध्याननिष्ठ होने का ही अभ्यास करता है। अतः हे अर्जुन! तुम्हें भी संसार में लौटना न पडे इसलिए योगयुक्त (ध्यानयोग से समाहित चित्त) होओ अर्थात मुझको (परमात्मा का) ही निरन्तर ध्यान करते

हुए समाहित होने का अभ्यास करो जिससे संसार में पुनरावृत्ति (पुनर्जन्म) न हो पाये। मेरा निरन्तर स्मरण करना ही जो मुझको प्राप्त करने का प्रधान उपाय है वह तो मैंने तुम्हें पहले ही कहा है (गीता ८।१)। यदि इस जन्म में ही निर्विकल्प समाधि से मुझको प्राप्त हो सको तो मृत्यु के पश्चात् मुझमें (शुद्धचैतन्यस्वरूप ब्रह्म में) लीन हो जाओगे और यदि जीवितावस्था में आत्मसाक्षात्कार न कर सको तो शुक्लगति से ब्रह्मलोक में जाकर तत्त्वज्ञानलाभ कर मेरी स्वरूपता को प्राप्त होओगे। यही भगवान् का इस श्लोक में कहने का अभिप्राय है।

[पूर्ववर्ती श्लोक में जो ध्यानयोग के सम्बन्ध में कहा गया है उसमें लोगों की श्रद्धा में वृद्धि हो इसलिए भगवान 'अब इस योग का माहात्म्य श्रवण करो' यह कहकर पुनः उस योग की प्रशंसा कर रहे हैं।]

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत् पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत् सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ २८ ॥

अन्वय—वेदेषु यज्ञेषु तपःसु दानेषु च एव यत् पुण्यफलं प्रदिष्टम्, योगी इदं विदित्वा तत्सर्वम् अत्येति (तथा) आद्यं परं स्थानम् उपैति च।

अनुवाद—सम्यक्प्रकार से वेदपाठ, यज्ञों के तथा तपस्याओं के अनुष्ठान एवं सभी प्रकार के दानकर्म करने पर जिन पुण्य फलों की प्राप्ति होती है, गीता के अष्टम अध्याय के प्रश्नों के निर्णयद्वारा इस अष्टम अध्याय में जिस योग के सम्बन्ध में कहा गया है उसे जानकर (अर्थात् सम्यक् प्रकार से अनुष्ठान कर) योगी उन पुण्यफलों का अतिक्रमण करते हैं, एवं जगत के आदि अर्थात् मूल कारणस्वरूप सर्वोत्कृष्ट स्थान [जो विष्णु का परमपद (परमात्मा) है उसको] प्राप्त होते हैं।

भाष्यदीपिका—वेदेषु—सम्यग्रूप से वेद का अध्ययन करने पर 'सम्यग्-रूप से' शब्द का तात्पर्य यह है कि दर्भपवित्रपाणि होकर (हाथ में पवित्र कुश धारण कर) प्रांगमुख होकर (पूर्व की ओर मुख कर) गुरु के अधीन रहकर गुरु के उच्चारण के अनुसार वेद का अध्ययन करने पर उसे 'सम्यग्-रूप से' अध्ययन करना कहा जाता है।

यज्ञेषु—साद्गुण्य के साथ (अर्थात् अंग उपांग के साथ) श्रद्धापूर्वक यज्ञों का अनुष्ठान करने पर। तपःसु—तपस्या करने पर अर्थात् मनः बुद्धि प्रभृति को एकाग्रता सम्पादन कर शास्त्रोक्त तपस्या यदि सुतप्त हो अर्थात् भलीभाँति आचरित हो तब दानेषु च एव—दानों से अर्थात् सभी प्रकार के दानों के सम्यक् (यथाविधि) अनुष्ठान से। तुलापुरुष इत्यादि जो दान शास्त्र में विहित है वे यदि विशिष्ट देश में, विशिष्ट काल में एवं विशिष्ट पात्र में प्रदत्त हों तब [श्लोक में 'च एव'—शब्द का तात्पर्य यह है कि वेदाध्ययन यज्ञादि का अनुष्ठान, तपश्चर्या एवं दान के सम्बन्ध में कहा गया वे कर्म यदि एकसाथ (सम्मिलित होकर)

सम्यक्प्रकार से अनुष्ठित होवें तब भी ('च' समुच्चयार्थ में एवं 'एव' शब्द अवधारणार्थ अर्थात् निश्चयार्थ में व्यवहृत हुआ है] यत् पुण्यफलम्—उक्तकर्मों से जो जो पुण्यों का फल (स्वर्गसुखादि) प्रदिष्टम्—शास्त्र में निर्दिष्ट है।

योगी—ध्याननिष्ठ योगी इदं विदित्वा—यह जानकर अर्थात् इस अध्याय के १-२ श्लोक में जो सात प्रश्न किये गये हैं उसके समाधान के रूप से अष्टमाध्याय में जो कहा गया है उसे सम्यक्रूप से जानकर अर्थात् केवल श्रवण या पठन के द्वारा नहीं इनका सम्यग्रूप से अनुष्ठान करने पर जिस अभिज्ञता (अनुभव) की उत्पत्ति होती है उसे प्राप्त होकर [यद्यपि ८।१–२ श्लोक में जो आठ प्रश्न किये गये हैं उनमे से 'किं तद्ब्रह्म' ? एवं 'अधियज्ञः कथं कोऽत्र' ?—कहने में दो पृथक् प्रश्न किये गये हैं ऐसा प्रतीत होता है किन्तु उन दोनों प्रश्नों का प्रतिपाद्य एक ही है, अतः यथार्थ रूप से प्रश्न सात है, आठ नहीं (आनन्दगिरि) ।]।

तत्सर्वम् अत्येति—उन पुण्यफलों को अतिक्रम करते हैं (तथा) आद्यं परं स्थानम् उपैति—पुनः वे जो केवल उन कर्मों के फल का अतिक्रम करते हैं, यह बात नहीं किन्तु यथासमय में ज्ञानलाभ कर (श्रीधर) आद्य स्थान को [आ।द में (मूल में) विद्यमान अर्थात् सबके कारणरूप परमस्थान को अर्थात् सर्वोत्कृष्ट ईश्वरीय स्थान जिनको विष्णु पद अथवा परमब्रह्म कहा जाता है उसे] प्राप्त होते हैं।

अभिप्राय यह है कि वेदाध्ययन, यज्ञादि कर्म, तपश्चर्या एवं दानादि कर्म का सम्यक्रूप से अनुष्ठान करने पर पुण्यों का उदय होता है एवं उनके फल रूप से सुखकर स्वर्गादि लोक की प्राप्ति होती है, यह बात शास्त्र में स्पष्टरूप से कही गयी है किन्तु तब भी उन कर्मों का फल नित्य तथा निरतिशय नहीं है, अतः उनके द्वारा संसार प्रवाह से मुक्ति प्राप्त करना सम्भव नहीं है। 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' (गीता) अर्थात् पुण्यक्षय होने पर (पुण्यकर्म का फल जो सुखभोग है वह शेष होने पर) मरणशील संसार में पुनः प्रत्यावर्तन करना (लौटना) पड़ता है। अष्टमाध्याय के प्रारम्भ में ही जो सात प्रश्न किये गये हैं उनका उत्तर देते हुए उस अध्याय में श्रीभगवान् इन विषयों को बिशेषरूप से स्पष्ट कर कहे हैं एवं नित्य तथा परमसुख को कैसे प्राप्त किया जा सकता है ? उसे भी निर्दिष्ट किया है। जो योगी इस अध्याय में कहे हुए विषय को स्वयं साधनानुष्ठान के द्वारा सम्यग्रूप से जान गये हैं वे सभी पुण्यफल का अतिक्रम करते हैं अर्थात् पुण्य का फल जो अनित्य जागतिक या पारलौकिक स्वर्गादि सुख है उसे भोग करने की इच्छा नहीं करते हैं किन्तु ध्याननिष्ठ हो नित्य शाश्वत परमानन्दस्वरूप परब्रह्म को प्राप्त होकर ब्रह्मस्वरूप ही हो जाते हैं। यदि निर्गुण ब्रह्म में ध्याननिष्ठ होकर इसी जीवन में आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करे तो उसके फलस्वरूप कोई गति

प्राप्त न होकर मृत्यु के बाद ब्रह्म में ही लीन हो जाते हैं अर्थात् सद्योमुक्ति को प्राप्त होते हैं और यदि ज्ञान का उदय न हो एवं योगी यदि सगुण ब्रह्म की उपासना में रत रहे तो मृत्यु के बाद शुक्लागति प्राप्त होकर ब्रह्मलोक में तत्त्वज्ञान लाभ करके सभी कारणों के कारण परब्रह्म को क्रम से प्राप्त होते हैं अर्थात् क्रममुक्ति लाभ करते हैं। सद्योमुक्ति प्राप्त हो या क्रममुक्ति प्राप्त हो, जो योगी ईश्वर या परमात्मा में योग से (चित्त को समाहित करके) उनके साथ सदा ही युक्त रहने के लिये प्रयत्न करते हैं उनको और संसार में पुनरावर्त्तन नहीं करना पड़ेगा, यह निश्चित है। [इस अध्याय में 'तत्त्वमसि' महावाक्य का तत्पद का अर्थ जो ईश्वर हैं उनको ध्येयरूप से (ध्यान के विषयरूप से) वर्णन किया गया। (मधुसूदन)] अध्याय के उपसंहार में भगवान के कहने का अभिप्राय यह है कि श्रुतिविहित कर्ममार्ग में यज्ञ दान तथा तपस्या के द्वारा जो जो फल प्राप्ति होती है उन सभी को ही निष्काम कर्मयोगी तथा परमेश्वर में ध्याननिष्ठ योगी प्राप्त हो सकते हैं इससे अतिरिक्त जो परमानन्दस्वरूप परमपद प्राप्त होनेपर सभी दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है एवं संसार में और पुनरावर्त्तन नहीं होता है, वह भी परमेश्वर की उपासना तथा उनकी प्रीति के लिये अनुष्ठित निष्काम कर्मों से अन्त में प्राप्त होता है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—अध्याय के अर्थस्वरूप आठ प्रश्नों का अर्थनिर्णय तथा उनके फल का उपसंहार कर रहे हैं वेदेषु यज्ञेषु तपःसु च एव यत् पुण्यफलं प्रदिष्टम्—वेदों में अर्थात् वेद के अध्ययनादि के द्वारा, यज्ञों में अर्थात् यज्ञादि के अनुष्ठान द्वारा, दानों में अर्थात् सत् पात्र को अभीष्ट वस्तु के दान द्वारा, तपस्याओं में अर्थात् शरीरादि के शोषण आदि के द्वारा, जो पुण्यफल शास्त्रों में उपदिष्ट (बताया गया) है तत् अत्येति सर्वम् इदं विदित्वा इत्यादि—उन सबका वह अतिक्रमण कर जाता है अर्थात उससे भी श्रेष्ठ योग के ऐश्वर्य को प्राप्त होता है। क्या करके उसे प्राप्त होता है ? (उत्तर) इन आठ प्रश्नों के अर्थ का निर्णय करके पर जो तत्त्व कहा गया है उस तत्त्व को जानकर योगी उससे तत्त्व ज्ञानी होकर परम (उत्कृष्ट) आद्य (जगत् के मूलभूत) स्थान को (विष्णु के परम पद को) प्राप्त होता है।

अष्टमेऽष्टविशिष्टेऽष्टसम्पृष्टार्थाष्टनिर्णयैः।
अक्लिष्टमष्टधाप्राप्तिः स्पष्टिताष्टमवर्त्मना॥

आठ विशेषताओं से युक्त आठवें अध्याय में जो आठ पदार्थों के सम्बन्ध में जो प्रश्न पूछे गये थे उनके उत्तर रूप आठ निर्णयों के द्वारा जो अष्टममार्ग स्पष्टीकृत हुआ है उससे आठ प्रकार की प्राप्ति होती है यह कहा गया है।

(२) शंकरानंद—इस प्रकार योगियों से प्राप्त होने योग्य उत्तरायण तथा कर्मियों से प्राप्त होने योग्य दक्षिणायन मार्गद्वयों का एवं उनमार्गों में

गमनकारी योगियों का एवं कर्मयोगियों को क्या फल प्राप्त होता है वह सम्यक् प्रतिपादन पूर्वक अब सगुण ब्रह्मोपासकों अर्चि आदि लोक में गमन कर जो सुख एवं ब्रह्मस्वरूपता को प्राप्त करते हैं उसको स्पष्ट कर रहे हैं।

वेदेषु—अंग व अर्थ सहित ऋग्वेद आदि वेदों के अध्ययन की जिस प्रकार विधि निर्दिष्ट है उसके अनुसार नियम पूर्वक सम्यक् प्रकार से अध्ययन करने पर यज्ञेषु—यज्ञानुष्ठान में अर्थात् आधान से लेकर अश्वमेध तक यज्ञ का विधिपूर्वक सागोपांग अनुष्ठान करने पर तपःसु—तपश्चर्या में अर्थात् कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि तपों की न्यूनता के विना सम्यक् आचरण करने पर च एव दानेषु—एवं दानकर्म में भी अर्थात् कन्या, गौ घोड़ा आदि दान शास्त्र के अनुसार देश, काल, पात्र आदिरूप सम्पत्ति से युक्त होकर ठीक ठीक किये जाने पर उनके कर्ता का यत् पुण्यफलं—जो पुण्य फल (ऊद्ध्वलोक में भोक्ताव्य जिस सुख) शास्त्र में प्रदिष्टं—प्रकृष्टरूप से उपदिष्ट अथवा निर्दिष्ट है तत् सर्वम्—वह सभी (सुख) इदम्—इसको 'अक्षरं' ब्रह्म परमम् ('अक्षर ब्रह्म परम है' इत्यादि के द्वारा निरूपित अध्यात्म, कर्म, अधिभूत अधिदैव, अधियज्ञ आदि भेद से रहित ब्रह्म को अथवा प्रणव के अवलम्बन ब्रह्म को विदित्वा—जानकर अर्थात् श्रद्धाभक्ति के द्वारा सर्वदा सम्यक् उपासना कर योगी—योगी अर्थात् सगुण ब्रह्म का उपासक स्वयं अग्नि से लेकर ब्रह्मभुवन तक लोकों में जाते समय स्थान स्थान में अग्नि आदि के द्वारा सम्यक् रूप से पूजित होकर पूर्वोक्त सुख का अत्येति—अतिक्रम करते हैं अर्थात् उस सुख से भी अधिक सुख प्राप्त करते हैं। ब्रह्म की उपासना का फल इतना ही नहीं है किन्तु स्थानं—स्थान अर्थात् सर्वाधिष्ठान, सभी के कारण परं—परम ब्रह्म को भी उपैति—प्राप्त होते हैं (मुक्ति प्राप्त होते हैं), यही अर्थ है।

(३) नारायणी टीका—(१) ब्रह्म (२) अध्यात्म (३) कर्म (४) अधिभूत (५) अधिदैव (६) अधियज्ञ इन सब शब्दों का तात्पर्य जानने से यही सिद्ध होता है कि एकमात्र भगवान् के अतिरिक्त जो कुछ है वह सवही अनित्य (विनाशशील) एवं मिथ्या है। अतः एकमात्र भगवान् को प्रत्यक्ष रूप से जानने से ही (साक्षात्कार करके उनके साथ ऐक्यानुभव करने से ही) परमपुरुषार्थ (मोक्ष) की सिद्धि हो सकती है अन्यथा नहीं। इसलिये अष्टमाध्याय में अर्जुन को स्पष्टरूप से भगवान् उक्त छः प्रश्नों का उत्तर देकर अर्जुन के सप्तम प्रश्न का (अर्थात् प्रयाणकाले (मृत्यु के समय) किस प्रकार से भगवान् ज्ञात हो सकता है अर्थात् उनकी स्मृति बनी रहती है) इस प्रश्न का भी उत्तर इस अध्याय में स्पष्ट रूप से दे रहे हैं। भक्तों के लिये भगवान् के दो रूप हैं—(१) ध्येय ईश्वर तथा (२) ज्ञेय ईश्वर।

गुरु एवं शास्त्रों से भगवान् का (ईश्वर का) स्वरूप निश्चित कर जब तक भक्त भगवान् में चित्त समाहित करने का अभ्यास करते हैं तब तक उनके लिये ईश्वर ध्येय—ही रहते हैं। ध्येय वस्तु से ध्याता का (भक्त का) पृथकत्वानुभव रहने के कारण सम्यक् दर्शन प्राप्त नहीं होता है। अतः इस प्रकार ध्यानाभ्यासकारी भक्त को मृत्यु के पश्चात् शुक्ल गति होती है अर्थात् शुक्लमार्ग से गमन कर ब्रह्मलोक में तत्त्वज्ञान (सम्यग् दर्शन) लाभ कर मुक्ति को (क्रममुक्ति को) प्राप्त होते हैं इस प्रकार योगी के सम्बन्ध में ही अष्टमाध्याय में विशेषरूप से वर्णन किया गया है। भगवान् जब ध्यान से ज्ञात होता है अर्थात् निर्विकल्प समाधि से ईश्वर तथा ध्याता भक्त का (जीव व ब्रह्म का) ऐक्य साक्षात्कार हो जाता है तब उस प्रकार ब्रह्मविद् योगी का और लोकान्तर में गमन नहीं होता वह मृत्यु के पश्चात् साक्षात् ब्रह्म में ही लीन हो जाता है।

२८ वें श्लोक में वेदाध्ययन, यज्ञ, दान तपस्या इत्यादि निरर्थक हैं ऐसा कहने का भगवान् का अभिप्राय नहीं है। इसका तात्पर्य यही है कि ध्याननिष्ठ योगी तत्त्वज्ञान प्राप्त न करने पर भी भगवान् में चित्त समाहित करने से जो परम आनन्दलाभ करते हैं उसकी अपेक्षा वेदपाठ, यज्ञ, दान, तपस्या इत्यादि के द्वारा जो फल (स्वर्गादि लोकप्राप्ति रूप फल) प्राप्त होता है वह अनित्य, अस्थिर, अपूर्ण एवं अन्त में विनाशशील है। परन्तु वे ध्याननिष्ठ योगी शुक्लमार्ग से गमन कर क्रम से मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं एवं उनका संसार में पुनर्जन्म नहीं होता केवल वेदपाठ, तप आदि से इस प्रकार की गति सम्भव नहीं होती है। यही 'अत्येति' शब्द का तात्पर्य है।

अष्टमाध्याय में ध्येय ईश्वर एवं उनमें ध्याननिष्ठ योगी की गति कही गई है। परवर्ती अध्यायों में ज्ञेय ईश्वर सम्बन्ध में कहा जायगा। ध्येय ईश्वर क्रममुक्तिरूप फल तथा ज्ञेय ईश्वर सद्योमुक्तिरूप फल देने वाला है।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि
श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-
संवादे अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ॥